Chapter. 1

अध्याय : 1

विषय - प्रवेश

अध्याय : 1

विषय - प्रवेश

उपन्यास इस नये युग की नयी विधा है । उसके जन्म-स्थान यूरोप में भी यह काव्य रूप अधिक पुराना नहीं है । औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न पूंजीवादी व्यवस्था ने जीवन की जटिलता को बढ़ाया । प्राचीन एवं परम्परावादी जीवन-प्रणाली तथा समाज-व्यवस्था में एक परिवर्तन आया । जीवन की इस जटिलता एवं नवीन परिवर्तन को रूपायित करने के लिए नये काव्य-रूप की तलाश आरंभ हुई । उसीसे उपन्यास का जन्म हुआ । उसका Novel नाम भी इसी नवीनता को द्योतित करता है ।

अंग्रेजी के अध्ययन एवं प्रचार-प्रसार के साथ यह नवीन पश्चिमी साहित्य-प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से भारतीय भाषाओं के साहित्य में प्रचलित होने लगा । गुजराती, मराठी, तमिल आदि भाषाओं में अंग्रेजी शब्द Novel के वज़न पर "नवलकथा" या "नवल" शब्द प्रयुक्त होता है । मराठी में उसे "कादम्बरी" भी कहते हैं, किन्तु "नवलकथा"

शब्द अधिक प्रचलित है । हिन्दी और बंगला में इसे "उपन्यास" कहते हैं । हिन्दी और बंगला में यह शब्द काव्यशास्त्र के माध्यम से आया है । उपन्यास के सन्दर्भ में यह अंतर्विरोध उल्लेखनीय है कि इस नवीन साहित्य-रूप के नामकरण के लिए संस्कृत नाट्य-शास्त्र से शब्द को ग्रहण किया गया । "उपन्यास" प्रतिमुख संधि का एक उपभेद है । वहाँ किसी बात को युक्तिपूर्वक कहकर मन के प्रसादन को उपन्यास कहा गया है ।[1] पश्चिम से आयातित इस काव्य-रूप में इन दोनों बातों को लक्ष्य करके संभवत: यह नाम दिया गया है ।

यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि उपन्यास मूलत: पश्चिम की देन है । वहाँ भी उसका उद्भव पुनरुत्थान काल (Renaissance) के पश्चात् हुआ । जॉन बनियन कृत अंग्रेजी का प्रथम उपन्यास "द पिलग्रिम्स प्रोग्रेस" सन् 1678 में प्रकाशित होता है । हमारे यहाँ सर्व प्रथम टेकचन्द ठाकुर कृत बंगला उपन्यास "आलालेर घरेर दुलाल" सन् 1857 में उपलब्ध होता है । उसी वर्ष बाबा पदमनजी कृत मराठी उपन्यास "यमुनापर्यटन" मिलता है । उसके पश्चात गुजराती में नंदशंकर तुलजाशंकर मेहता द्वारा लिखित "करणघेलो" उपन्यास सन् 1866 में प्रकाशित होता है । हिन्दी का प्रथम उपन्यास पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी कृत "भाग्यवती" सन् 1877 में उपलब्ध होता है । इस प्रकार हिन्दी उपन्यास ने लगभग सौ साल की यात्रा तय कर ली है ।

इन सौ वर्षों में हिन्दी उपन्यास ने पर्याप्त प्रगति की है । प्रेमचन्द - पूर्व युग में पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी, लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहनसिंह, राधाकृष्णदास, मेहता लज्जाराम शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, ब्रजनन्दन सहाय, बाबू गोपालराम

गहमरी, देवकीनन्दन खत्री, मन्नन द्विवेदी प्रभृति उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यास को प्रतिष्ठित किया । यह एक सुखद संयोग है कि हिन्दी का प्रथम उपन्यास "भाग्यवती" आधुनिक युग की एक ज्वलंत समस्या "नारी-शिक्षा" को लेकर चला । बाबू गोपालराम गहमरी और देवकीनन्दन खत्री ने क्रमशः जासूसी एवं तिलस्मी उपन्यासों के द्वारा जहाँ एक और हिन्दी उपन्यास को लोकप्रियता प्रदान की वहाँ उसके स्वाभाविक विकास-क्रम में एक गतिरोध भी पैदा किया क्योंकि पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी, लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय प्रभृति उपन्यासकार जिन सामाजिक समस्याओं को लेकर अग्रसर हो रहे थे उसमें इनके उपन्यासों ने एक भारी गतिरोध पैदा किया । किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक एवं ऐतिहासिक प्रकार के उपन्यास दिये, किन्तु इनके ऐतिहासिक उपन्यासों को ऐतिहासिक रम्याख्यान (Historical Romance) कहना ही उचित होगा क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए वांछित अध्ययन, सर्वेक्षण एवं निष्ठा का यहाँ अभाव-सा दिखता है । इस समय के सामाजिक उपन्यास समस्याप्रधान एवं स्थूल कथात्मक ढाँचा लिए हुए है । चरित्र-चित्रण की वे खूबियाँ यहाँ उपलब्ध नहीं जो आगे चलकर प्रेमचन्द में मिलती हैं । शिल्प-सौष्ठव की दृष्टि से इन उपन्यासों में अपरिपक्वता के रहते हुए भी इनका महत्व अपरिहार्य है, क्योंकि शिल्प-चेतना की जो प्रौढ़ता प्रेमचन्द युग में उपलब्ध होती है उसकी भूमिका यहाँ से निर्मित होती है ।

वस्तुत: प्रेमचन्दजीने फुल्लौरी, लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, मन्नन द्विवेदी की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए उसके स्थूल कथा-प्रधान ढाँचे के स्थान पर चरित्र-चित्रण एवं मनोविश्लेषण पर अधिक बल दिया। डॉ॰ गणेशन के मतानुसार प्रेमचन्दने ही हिन्दी उपन्यास को सर्वप्रथम "मानव-चरित्र" की पहचान दी।[2] प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी उपन्यास अन्य भाषाओं से ग्रहण ही करता था, प्रेमचन्द के बाद वह दूसरी भाषाओं को कुछ देने की स्थिति में आ गया। ऊपर बताया जा चुका है कि पं॰ श्रद्धाराम फुल्लौरी, बालकृष्ण भट्ट आदि ने सामाजिक उपन्यासों का पथ प्रशस्त कर दिया था। लेकिन उस युग में उनके उपन्यासों को पढ़नेवालों की संख्या ज्यादा नहीं थी। डॉ॰ रामविलास शर्मा के शब्दों में, " "चन्द्रकान्ता" और "तिलिस्मे होशरूबा" के पढ़ने वाले लाखों थे। प्रेमचन्दने इन लाखों पाठकों को अपनी तरफ ही नहीं खींचा, "चन्द्रकान्ता" में अरुचि भी पैदा की। जन-रुचि के लिए उन्होंने नये माप-दण्ड कायम किये और साहित्य के नये पाठक और पाठिकाएँ भी पैदा किए। यह उनकी जबरदस्त सफलता थी।"[3] यहाँ डॉ॰ पारूकांत देसाई का यह मत उल्लेखनीय रहेगा कि "प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यास साहित्य अपरिपक्व, एकांगी, घटनात्मक, मनोरंजन--प्रधान, सुधारवादी, नव्य जीवन-दृष्टि से शून्य था। प्रेमचन्द ने उसमें नयी चेतना फूँक दी और उसे पुष्ट, बहुआयामी, चरित्रात्मक, महत् उद्देश्यलक्षी बनाया तथा उसे एक नयी जीवन दृष्टि-मानवतावादी दृष्टि प्रदान की।"[4] उपन्यास में मानव-चरित्र का चित्र प्रेमचन्द का काम्य रहा है। प्रेमचन्द पूर्व उपन्यासों में "पात्र" मिलते हैं, मानव-चरित्र नहीं। यह मानवीय संवेदना प्रेमचन्द साहित्य का प्रधान स्वर है। इसके सम्बन्ध में

अज्ञेयजी ने लिखा है : "साहित्यकार की संवेदना को, मानवीय चेतनाको, हमने अधिक विकसित या प्रसारित नहीं किया है ..... प्रेमचन्द को हम पीछे छोड़ आये, यह दावा सार्थक उसी दिन होगा जिस दिन उससे बड़ी मानवीय संवेदना हमारे बीच प्रकट हो । उसके बाद ही हम कह सकेंगे कि प्रेमचन्द का महत्व ऐतिहासिक महत्त्व है । तब तक वह हमारे बीच में है, पुराने पड़कर भी समर्थ हैं, साहित्य - संस्कार में गुरू स्थानीय हैं और उनसे हमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ।"[5]

प्रेमचन्दने न केवल हिन्दी उपन्यास को एक गरिमा प्रदान की, प्रत्युत अनेक नवोदित साहित्यकारों को प्रोत्साहित किया । "आज हिन्दी में जैनेन्द्र, अज्ञेय, राधाकृष्ण जनार्दन नागर, जनार्दन झा द्विज, गंगाप्रसाद मिश्र, वीरेश्वर मिश्र, उपेन्द्रनाथ "अश्क", वीरेन्द्रकुमार जैन, पहाड़ी जैसे अनगिनत लेखक हैं जिनको प्रेमचन्द ने अपने हाथ से सँवारा है, जिनकी नयी प्रतिभा को उन्हों ने पहचाना, उजागर किया और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया ।"[6] उर्दू के प्रसिद्ध कवि रघुपति सहाय (फिराक गोरखपुरी) को कवि-रूप में स्थापित करने में प्रेमचन्दजी का श्रेय कम नहीं था ।[7] इस प्रकार प्रेमचन्दजी अपने आप में एक संस्था - एक युग थे । उस युग के अन्य उपन्यासकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक", पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र", चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, ऋषभचरण जैन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, जयशंकरप्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, वृन्दावनलाल वर्मा, सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा आदि प्रमुख हैं । इनमें अंतिम तीन लेखक तो प्रेमचन्द युग में (सन् 1918 से 1936) अपने प्रारंभिक कृतित्व में ही थे । उनकी कला का विकास तो प्रेमचन्दोत्तर युग में ही हुआ ।

प्रेमचन्द युग तक सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यासों का पथ प्रशस्त हो चुका था, प्रेमचन्दोत्तर युगमें इनके अतिरिक्त समाजवादी, मनोवैज्ञानिक, आंचलिक, राजनीतिक प्रभृति औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ विकसित हो चली थी। चिंतन - क्षेत्र में आदर्शवाद, आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद, यथार्थवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद, प्रकृतवाद, अस्तित्ववाद जैसी विचारधाराएँ प्रतिष्ठित हो रही हैं। जैनेन्द्र इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, अज्ञेय, यशपाल, रांगेय राघव, पं॰ राहुल सांकृत्यायन, अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ अश्क, नागार्जुन, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, हिमांशु श्रीवास्तव, फणीश्वरनाथ रेणु प्रभृति उपन्यासकारों ने प्रेमचन्दोत्तर चौमुखी औपन्यासिक विकास-यात्रा को और आगे बढ़ाया है। यहाँ सन् 1960 के बाद के उपन्यासकाराकें का उल्लेख नहीं किया है क्योंकि उनकी चर्चा परवर्ती पृष्ठों में "साठोत्तरी उपन्यास" के संदर्भ में होगी। उपर्युक्त लेखकों में से भी कुछ का उल्लेख वहाँ होगा।

युगीन चेतना

उपन्यास की तमाम परिभाषाओं पर एक विहंगम दृष्टि डालने से उसका व्यावर्तक लक्षण स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है और वह है उसकी यथार्थ धर्मिता। उपन्यास यथार्थधर्मी विधा है। आधुनिक मनुष्य की नब्ज़ जितनी उपन्यास ने पहचानी है, कदाचित अन्य किसी विधा ने नहीं। उसकी आशा - आकांक्षा, आस्था-अनास्था, सुखदुःख, कुण्ठा, यंत्रणा, वेदना, पीड़ा सबकुछ उस में रूपायित हो रहा है। वह

सिनेमाटोग्राफ की भाँति हमारे सामने आता है और गत जीवन को देखनेवाली एक आँख बन जाता है ।[8] राल्फ फोक्स के अनुसार उपन्यास मानव-जीवन का गद्य है । यह वह पहली कला है जिसमें मनुष्य को उसकी समग्रता में समझने और समझाने का प्रयास हुआ है ।[9] ल्योर्ज महोदयने भी लिखा है कि उपन्यास क्रमशः मानव-जीवन को समझाने तथा उसके निर्माण की ओर बढ़ रहा है ।[10] कई बार हम उपन्यासों के द्वारा किसी देश, समाज, जाति या व्यक्ति को जितना समझ लेते हैं उतना इतिहास या अन्य शास्त्रीय ग्रंथों से नहीं समझ पाते । बाल्ज़ाक के उपन्यासों के बारे में कार्लमार्क्स ने कहा था कि फ्रान्स के इतिहास और आर्थिक-सामाजिक जीवन के बारें में उन्हों ने जितना बाल्ज़ाक के उपन्यासों से सीखा है उतना वे सारे इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों और समाज-निर्माताओं से भी नहीं सीख सकते थे ।[11] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के मतानुसार "उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी चित्रित करने का प्रयास रहता है ।"[12]

तात्पर्य यह कि उपन्यास जब यथार्थ पर आधारित है तो उसे समझने के लिए तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों को समझ लेना भी आवश्यक हो जाता है । पहले भूमिका में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि प्रस्तुत प्रबंध में सन् 1960 से लेकर सन् 1980 तक के साठोत्तरी उपन्यासों विशेषतः व्यंग्यात्मक का अध्ययन किया गया है । अतः इन विगत बीस वर्षों की चेतना को पकड़ना भी अत्यावश्यक है ।

राजनीतिक दृष्टि से यह काल मोहभंग का है । शांतिमय सह-अस्तित्व, पंचशील, हिन्दी-चीनी भाई-भाई यह सब बातें कोरी तफसीलें सिद्ध हुई । चीन ने बीस अक्तूबर, 1962 के दिन भारत पर आक्रमण कर दिया । हमारे दीवा-स्वपनों का गुब्बारा फूट गया । सामरिक दृष्टि से हम सोये हुए थे । युद्ध के बाद युद्ध की तैयारियाँ प्रारंभ हुआ और फलत: पराजय झेलना पड़ा । चीन ने हमारी कई चौरस मील जमीन पर कब्जा कर लिया जो आज भी उनके पास है । इन दिनों भी अरुणाचल में चीनी-घुसपैठ चालु है । एक महीने बाद दूसरे देशों के बीच - बचाव से चीन ने एक-तरफा युद्धविराम किया तब हमारी जान में जान आयी । इसमें सुरक्षामंत्री कृष्णमेनन को बलि का बकरा होना पड़ा । पंडित नेहरू की आस्था, इज्जत, लोकप्रियता का संमोहन कुछ भंग हुआ और इन्हीं नैराश्यपूर्ण मोहभंग से त्रस्त स्थितियों में सन् 1964 की 27 मई को उनका निधन हुआ । गुलझारीलाल नंदा एक्टिंग प्रधानमंत्री हुए और कुछ ही दिनों में कोंग्रेस कार्य-कारिणी के अनुमोदन से स्व. लालबहादुर शास्त्री स्वतंत्र भारत के द्वितीय प्रधानमंत्री हुए । प्रजातंत्र में लोगों की आस्था कुछ दृढ़ हुई । अठारह महीने के अल्पकाल में उन्होंने अश्रुतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की । बाहयत: वामन-स्वरूप शास्त्रीजी की विराटता का अनुभव लोगों ने सन् 1965 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के दौरान किया ।

शास्त्रीजी के समय में ही सन् 1965 में पहले कच्छ और बाद में छाम्ब विस्तार में पाकिस्तान ने आक्रमण किया जिसका भारतीय सेनाने न

केवल डटकर मुकाबला किया, बल्कि पाकिस्तान के कुछ विस्तारों पर कब्जा भी कर दिया । तभी यू॰एन॰ओ॰ के भूतपूर्व महामंत्री ऊथां के प्रयत्नों से युद्धविराम हुआ । भारतने जीते हुए प्रदेश वापिस लौटा दिए । जनवरी, सन् 1966 को इसी संदर्भ में आयोजित ताशकन्द-वार्ता में सम्मिलित होने के लिए गये शास्त्रीजी की शंकास्पद स्थितियों में मृत्यु हुई । सर्वश्री कामराज नादार के प्रयत्नों से श्रीमती इन्दिरा गांधी भारत की प्रथम महिला प्रधानमंत्री हुईं । श्रीमती इन्दिरा गांधी को प्रधानमंत्री बनाने के पीछे कामराज का पंडित जवाहरलाल नेहरू के प्रति अहोभाव तो कारणभूत था ही, यह भी मन में था कि वह उनके कहे अनुसार चलेगी, किन्तु थोडे ही समय में उन्हें निराशा हासिल हुई जब इन्दिराजी ने अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का परिचय दिया ।[13] सन् 1969 के बेंगलोर अधिवेशन में श्री॰ वी॰वी॰ गिरि एवं नीलम संजीव रेड्डी के राष्ट्रपतिपद को लेकर कांग्रेस इन्डीकेट - सिन्डीकेट में विभाजित हुई । श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कांग्रेस के निर्वाचित उम्मीदवार श्री रेड्डी के खिलाफ श्री वी॰वी॰ गिरि को खड़ा किया और कांग्रेस के नेताओं को विभ्रमित करने के लिए प्रथम बार "आत्मा की आवाज" का शगूफा छोडा गया ।[14] श्री वी॰वी॰ गिरि जीत गये । वस्तुत: यह जीत पुराने कांग्रेसी नेताओं के सामने श्रीमती इन्दिरा गांधी की थी । श्री मुरारजीभाई देसाई, नीलम संजीव रेड्डी, कामराज जैसे पुराने कांग्रेसी शासक कांग्रेस से अलग हुए । इसी वर्ष बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया । मनुष्य ने पहली बार चंद्र पर पैर रखा । इन वर्षों में श्रीमती इन्दिरा गांधी की लोकप्रियता बढ़ती

गई । विरोधी दलों के "इन्दिरा हटाओ" के सामने "गरीबी हटाओ" का नारा देकर सन् 1971 का आमचुनाव श्रीमती गांधी ने काफी बहुमत से जीत लिया । कांग्रेस (आई) को लोकसभा में 350 सीटें मिली – पहले से 120 ज्यादा ।[15] इस जीत ने इन्दिरा गांधी का हौसला और बढ़ाया । उसी वर्ष अमरिका द्वारा अनुमोदित पाकिस्तान के सैन्य के अत्याचारों से पीड़ित एक करोड़ निराश्रित शरणार्थी पूर्वी पाकिस्तान से भारत में आये । वस्तुत: यह संगठित बुद्धिजीवी वर्ग की साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ाई थी । शरणार्थी समस्या के कारण भारत को काफी आर्थिक हानि उठानी पड़ी । इन्हीं कारणों से दिसम्बर 1971 में पुन: भारत-पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ गया । भारतीय सेना तथा बांगला मुक्तिवाहिनी के संयुक्त प्रयत्नों से सन् 1972में पूर्वी पाकिस्तान एक स्वतंत्र देश – बांगलादेश – के रूप में अस्तित्व में आया । शेखमुजिबुर रहमान उसके प्रथम राष्ट्रप्रमुख हुए ।

इस युद्ध से श्रीमती गांधी को अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई । भारतीय संस्कृति और राम की लंका – विजय को याद किया जाने लगा[16] और श्रीमती इन्दिरा गांधी की तुलना झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, जान आफ आर्क तथा दुर्गा से होने लगी । चित्रकार हुसैन ने दुर्गा के रूप में इन्दिराजी का एक चित्र भी बनाया, जो बाद में संसद-भवन में लगाया गया ।

इस लोकप्रियता को भुनाने में इन्दिराजी ने कोई गलती नहीं की । सन् 1972 के प्रांतीय चुनावों में कोंग्रेस (आई) ने विरोधीदलों को जबरदस्त धक्का दिया और कुल 2529 (जिन पर चुनाव लड़ा गया) सीटों में से 1926 सीटें कोंग्रेस (आई) को मिली ।[17] इस स्थिति ने इन्दिरा की शक्ति को अनेक गुना बढ़ा दिया । शनैः शनैः यह शक्ति आपखुदी में बदलती गई ।

राष्ट्रपति के पद की अस्मिता बुझने लगी ।[18] यही बात राज्य के राज्यपालों पर भी घटित हुई । असफल राजनीतिज्ञों को राज्यपाल का पद दिया जाने लगा । मंत्रीमंडल के सदस्य भी आज्ञांकित छात्रों का अभिनय करने लगे ।[19] कांग्रेस - प्रमुख देवकान्त बरुआ ने तो Indira is India and India is Indira का सूत्र ही दे दिया । "मयडममय सब जग जानि, करहू प्रणाम जोरि जुग पाति" का निरंतर पाठ होने लगा ।

किन्तु थोड़े ही समय में बांगलादेश सम्बन्धी मोहभंग की स्थिति भी सामने आयी । बंगबन्धु मुजिबर रहमान की हत्या हुई और तबसे फिर बांगलादेश भारत से पुनः शत्रुवत व्यवहार कर रहा है । गंगा के पानी और सीमाबन्दी के झगड़े चल रहे हैं । धर्मान्ध नीति के कारण लगातार कुछ लोगों को खदेड़ा जा रहा है और वे निकटवर्ती प्रदेशों में घुसपैठ कर रहे हैं । दूसरी ओर, भारत-पाकिस्तान के बीच सिमला-करार हुए, किन्तु बावजूद शांति के तमाम प्रयत्नों के, इन दोनों देशों में युद्ध की आशंका बराबर बनी रहती है । सन् 1974 में भारत ने राजस्थान स्थित

पोकरण में शान्तिमय हेतुओं के लिए प्रथम अणुविस्फोट किया । इसी वर्ष बढ़ती हुई महँगाई, रोजी-रोटी, बेरोजगारी, व्यापक भ्रष्टाचार आदि के खिलाफ़ जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में बिहार में कई छात्र आंदोलन हुए । गुजरात के "नवनिर्माण" के आंदोलन ने सारे देश का ध्यान आकर्षित किया, किन्तु बादमें वह राजनीतिक स्टंट मात्र बनकर रह गया । सन् 1975, 12 जून को इलाहाबाद हाईकोर्ट के मुख्य न्यायमूर्ति श्री जगमोहनसिंहाने अपना ऐतिहासिक फैसला देकर तहलका-सा मचा दिया । समाजवादी नेता राजनारायणने अपने एडवोकेट श्री शांतिभूषण के द्वारा श्रीमती गांधी के चुनाव को लेकर एक रीट दाखिल की थी, जिसके तहत उक्त फैसला सुनाया गया जिसमें श्रीमती गांधी की भ्रष्टाचारी नीतियों के कारण उनके चुनाव को गैरकानूनी घोषित करते हुए उन्हें छः साल के लिए बरखास्त किया गया ।

प्रजातांत्रिक प्रणालिका के अनुसार इन्दिराजी को त्यागपत्र देकर सुप्रीम कोर्ट में अपील करनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं हुआ । 26 जून, 1975 में उन्होंने देश में आपातकालीन स्थिति (Emergency) की घोषणा कर दी । प्रेस पर सेन्सरशीप आयी । विरोधीदल के सैकड़ों छोटे-बड़े नेताओं को जेलों में बन्द कर दिया गया ।[20] जिनबुद्धिजीवियों और साहित्यकारों ने इसका विरोध किया उन्हें भी जेल की सलाखों के पीछे धकेल दिया गया जिनमें रेणु, दुर्गा भागवते आदि प्रमुख है । अधिकांश बुद्धिजीवी एवं साहित्यकार चुप रहे । श्री आर॰के॰ धवन, कपूर, संजय गांधी एवं धीरेन्द्र ब्रह्मचारी जैसे लोगों की बन आयी ।

इन्हीं दिनों बड़ौदा (गुजरात) में "डायनेमाईट" प्रकरण हुआ। परिवार - नियोजन को लेकर देशमें अनेक ज्यादतियाँ हुई। चारों तरफ "दरबारी राग" आलापा जाने लगा। चाटुकारों की बन आयी। इन्हीं स्थितियों में आम चुनाव कराके स्वयं को पुन: स्थापित एवं प्रतिष्ठित करने की मंशा से जनवरी सन् 1977 में श्रीमती इन्दिरा गाँधीने चुनाव घोषित किए और जार्ज फर्नान्डीज़ के अतिरिक्त प्राय: सभी बड़े नेताओं को छोड दिया गया।

यहाँ से भारतीय राजनीति में एक मोड़ आया। आपातकालीन स्थिति ने विरोधीदल के नेताओं को एक किया। इस ध्रुवीकरण के परिणामस्वरूप इतिहास में पहलीबार काँग्रेस के विकल्प के रूप में "जनता पक्ष" उभरकर आया। लोग विरोधी दल के नेताओं को सुनने के लिए रात दो-दो बजे तक बैठे रहते थे। पूरे देश में एक वातावरण-सा बन गया। आपातकालीन स्थिति के पश्चात खुली हवा के इस झोंके ने लोगों के मनो-मस्तिष्क को तर कर दिया। इस "जनता वेव" ने अभूतपूर्व सफलता हासिल की। उत्तर भारत के सभी राज्यों में कांग्रेस बुरी तरह से पराजित हुई। संजय गांधी और श्रीमती इन्दिरा गांधी दोनों चुनाव हार गये। स्वाधीनता के बाद पहलीबार कांग्रेस का विकल्प सामने आया और श्री मुरारजी देसाई प्रधान-मंत्री हुए। सर्वश्री चरणसिंह, अटलबिहारी बाजपेयी, एल॰ के॰ अडवानी, राजनारायण, जगजीवनराम प्रभृति मंत्रिमण्डल में आये। चरणसिंह को नायब प्रधानमंत्री बनाया गया। परन्तु दो साल के संक्षिप्त काल में पारस्परिक विवादों के कारण न केवल जनता-शासन

समाप्त हो गया, वरन् सन् 1979 के Mid-term pole में श्रीमती इन्दिरा गांधी पुनः ज्वलंत बहुमतसे उभरकर आयी । इन दो वर्षों में शाह कमीशन के कारण श्रीमती गांधी ही अखबारी सुर्खियों में अधिक रही । लोगों में एक आम धारणा बन गई कि इनको राज करना नहीं आता ।[21] फलतः न केवल उनकी हार हुई, अपितु लोकतांत्रिक प्रणाली के लिए आवश्यक ऐसी ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को भी काफी धक्का पहुँचा । इसी आघात में राष्ट्रनायक जयप्रकाश नारायण का निधन हुआ । श्रीमती इन्दिरा गांधी पुनः स्थापित हुई ।

दूसरी ओर इन वर्षों में (सन् 1960-1980) हमारी राष्ट्रीय अस्मिता भी कुछ-कुछ बुझने लगी थी । महान राष्ट्रवादी पंडित दीनदयाल उपाध्याय की हत्या इन्हीं दिनों में हुई । पंडित जवाहरलाल नेहरू, लाल बहादुर शास्त्री, डॉ॰ राममनोहर लोहिया, डॉ॰ ज़ाकीर हुसैन, डॉ॰ राधाकृष्णन, डॉ॰ होमी भाभा, डॉ॰ विक्रम साराभाई, राष्ट्र नायक जयप्रकाश नारायण आदि महान् राष्ट्रवादी चिन्तकों एवं अन्तरराष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त वैज्ञानिकों के निधन भी इन दिनों में हुए ।

स्वाधीनता के उपरान्त हमारे देशमें एक उल्टा चक्र चला । आज़ादी के पहले की सारी बातें केवल बातें रह गयी । मानसिक दासता बढ़ती गई । नौकरशाही बढ़ती गई । राजनीतिक दोगलेपनने सारे मूल्यों को धराशायी कर दिया । गरीबी, बेरोजगारी, महँगाई, भ्रष्टाचार, काला बाज़ार, तस्कर व्यापार आदि दिन दुने रात चौगुने बढ़ रहे हैं । येन केन प्रकारेण पैसा कमाओ की नीति चल रही है । रूपये की इस खन खन में आदमी खो गया है ।

बढ़ते हुए पूंजीवाद, औद्योगिकरण, मशीनीकरण आदि से आदमी शनै: शनै: मशीन होता जा रहा है । उसकी संवेदनाएं भोंथरी पड़ रही है । वह नितान्त स्वार्थी होकर अपने में सिमट रहा है । गाँव टूट रहे हैं, आदमी टूट रहा है । प्रतिदिन लाखों-करोड़ों लोग नगरों की ओर भाग रहे हैं । इसने नगरों की समस्याओं को भी अनेकगुना बढ़ा दिया है । प्रदूषण जल और वायु में ही नही, आदमी के मन में भी फैल रहा है । यह आदमी का ज़हर आदमी के भीतर के आदमी को खत्म कर रहा है । नदियाँ गटरों में परिवर्तित हो रही है । दूसरी तरफ पहाड़ और जंगल कट रहे हैं । इससे नयी प्राकृतिक समस्याएं सामने आ रही है । जहाँ इज़रायल जैसा रेगिस्तान बाग में बदल रहा है, वहाँ हमारा यह नंदनवन उजड़कर मरू भूमि में बदलने जा रहा है । हमारे पास प्राकृतिक संपत्ति का भण्डार है, परन्तु परस्पर की गलाकाट स्पर्द्धा में हम इतने व्यस्त हैं कि हमें और कुछ सुझाई नहीं देता ।

राजनीति की इस काली नागिन ने धर्म, शिक्षा, समाज, संस्कृति, व्यापार आदि सभी को डँस लिया है । स्वाधीनता-पूर्व के शहीदों का स्थान अब शोहदों ने ले लिया है । नव - धनिक वर्ग रूपये से खरीदी ताकत के मद में झूम रहा है । मूल्य मर रहे हैं । अ-मूल्य पनप रहे हैं ।

पिछले दो महायुद्धों ने यूरोप में वस्तुवादी-भौतिकवादी चिन्तन को बढ़ाया । इस बढ़ते हुए वस्तुवाद (Matirialistic attitude) ने मनुष्य को भौतिक दृष्टि से तो संपन्न किया, किन्तु उसके भीतर को, उसके हृदय को, उसकी आत्मा को मार दिया । उसका चैनो सुकून खत्म हो गया ।

प्रेम, भावना, रिश्ते-नाते आदि सब का शुमार बेकार की बातों में हो गया। आदमी बुद्धिवादी हो गया। इस बढ़ते हुए बुद्धिवाद ने आदमी को शुष्क बना दिया। उसके भीतर की सारी सरसता को सोख दिया।

और यह भौतिकवाद अब भारत में भी संक्रमित हो रहा है, अत: वे ही समस्याएं अब यहाँ भी पनप रही हैं। अमानवीकरण (Dehumanalization) की प्रक्रिया जोरों से चल रही है। खून के रिश्ते पानी में बदल रहे हैं। आदमी भीड़ में भी अकेला है।

गाँव राजनीति के अखाड़े हो गए हैं। शहरों के अधकचरे - अधपके मूल्य व बाहरी फैशन गाँवों के प्राकृतिक सरल वातावरण पर हावी हो रहे हैं। जटिलता अब यहाँ भी बढ़ रही है। कामचोरी और हरामीपन यहाँ भी पनप रहा है।

बढ़ते हुए बुद्धिवाद ने व्यक्ति के "अहं" को अनेक गुना बढ़ा दिया है। स्त्री-पुरुष के बीच "अहं" की टकराहट बढ़ रही है, जिससे न केवल दाम्पत्य की दीवारों में दरारे ही पड़ रही हैं, अपितु अनेक संसार उजड़ भी रहे हैं। इनमें बच्चों की स्थिति त्रिशंकु जैसी हो रही है। स्त्री- शिक्षा ने जहाँ उसे अधिक आत्मनिर्भर किया है, वहाँ कुछ नयी समस्याएं भी सामने आ रही हैं। स्त्री-शोषण का एक नया कोण यह भी उभर रहा है कि कई बार पारिवारिक उत्तर दायित्वों के निर्वाह के लिए उसे विवश होकर अविवाहित रहना पड़ता है, जिससे उसके मानस में कई ग्रंथियाँ बन जाती हैं। कुण्ठित और पीड़ित जीवन की अभिशप्त नियति को ढोते-ढोते उसे

संत्रास और घुटन की अंधकारपूर्ण सुरंगों से गुजरना पड़ता है ।

संक्षेप में राजनीति, समाज, धर्म, शिक्षा आदि सभी क्षेत्र समस्याओं से बुरी तरह से ग्रस्त हैं । जीवन की जटिलता पहले की अपेक्षा बढ़ गई है । आदमी भयंकर एकलता की ओर संक्रमण कर रहा है ।

साठोत्तरी उपन्यास

"साठोत्तरी" शब्द "साठ उत्तरी" से व्युत्पन्न हुआ है, अत: सन् 1960 के बाद की रचनाओं के सन्दर्भ में इस शब्द का व्यवहार होता है । अत: एक काल-विषयक विभावना तो यहाँ है ही, किन्तु साठ के बाद की सभी रचनाओं को उसके अंतर्गत नहीं रखा जाएगा । विवेच्य कालमें विपुल औपन्यासिक साहित्य उपलब्ध होता है, क्योंकि यहाँ भी वह सत्य प्रमाणित होता है कि साहित्य के इतिहास में कोई भी प्रवृत्ति बिलकुल नष्ट नहीं होती । थोड़े समय के लिए वह क्षीण या कमजोर पड़ जाती है, परन्तु फिर भी उभरकर सामने आ जाती है । अत: उपन्यास साहित्य में भी उसके आरंभ से लेकर चलनेवाली अनेक प्रवृत्तियाँ अभी तक किसी-न-किसी रूप में चल रही हैं । दूसरे साहित्य की किसी भी विधा की तुलना में उपन्यास अधिक लिखे गये हैं क्योंकि हमारे आधुनिक समय की धुरी तो व्यवसाय के आसपास धूम रही है । उपन्यास को बेचना-खपाना आसान है, अत: कोई भी प्रकाशक उसे छापने के लिए तैयार रहता है । तीसरे यह भी सुविदित है कि यह विधा उत्कृष्ट साहित्यिक स्तर की कृति देने में जितनी कष्टसाध्य है, वहाँ साधारण कोटि की या निम्न-कक्षा की

कृति देना इसमें बड़ा सरल है ।[22] यही कारण है कि एक तरफ इसमें वैश्विक स्तर के नोबेल प्राइज विजेता लेखक भी मिलते हैं, तो दूसरी तरफ घासलेटी साहित्य लिखनेवाले सस्ते-बाज़ारू लेखक भी मिल जाते हैं ।

तात्पर्य यह कि इस विपुल औपन्यासिक साहित्य के उपरांत यहाँ केवल उन उपन्यासों को लिया जाता है जिन्हों ने यथार्थधर्मिता, प्रयोगशीलता, आधुनिक भावबोध, कलागत सूक्ष्मता, व्यंग्यात्मक तेवर, नवीन भाषिक-संरचना तथा शिल्पगत नवीन आयामों के कारण साठोत्तरी उपन्यासों के रूप में अपनी एक विशिष्ट पहचान बनायी है ।[23]

इधर की साहित्यिक - समीक्षा में साठोत्तरी कविता,[24] साठोत्तरी कहानी, साठोत्तरी नाटक आदि की विशेष रूप से चर्चा हो रही है, अत: यह साठ का अंक हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में शकवर्ती या युगान्तकारी हो ऐसा नहीं है । साहित्येतिहास में यह संभव भी नहीं । यहाँ कोई भी प्रवृति धीरे धीरे आती है और फिर क्रमशः बलवती होती जाती है कि कई बार पता भी नहीं चलता कि यह प्रवृत्ति कहाँ से शुरू हुई । परंतु यह साठ का सन् मोटे तौर पर यों तय हुआ कि इधर के साहित्य में जो मोहभंग की छवि मिलती है उसका आकलन साठ के बाद कुछ विपुल परिमाण में मिलने लगता है । सन् 1947 में हम स्वाधीन हुए । कुछ वर्ष प्रतीक्षा में गये । परंतु दस-पन्द्रह वर्षों तक जब कोई खास परिवर्तन नहीं दिखे, बल्कि स्थिति बद से बदतर होती गई तब यह मोहभंग की प्रक्रिया शुरू हुई । इस मोहभंग को साठ के बाद के कथाकारों ने बहुत गहराई से महसूस किया और उसे उसके यथार्थ रूप में कलागत ताटस्थ्य के साथ प्रस्तुत किया ।

आदर्श का आग्रह और रोमानी प्रवृत्ति कम होती गई । लेखकीय तटस्थता और निरपेक्षता पर बल दिया जाने लगा । ग्राम्य-परिवेश का चित्रण भी "अहा । ग्राम्यजीवन भी क्या है ।" वाली शैली में न होकर उसके यथार्थ, नग्न, बीहड़ रूप में होने लगा । अपने यथार्थ के प्रति लेखक की प्रामाणिकता प्रमाणित होने लगी। डॉ० देसाई के शब्दों में उपर्युक्त "सामाजिक-राजनीतिक-वैश्विक स्थितियों का स्वानुभूत, निरपेक्ष, अरोमानी, यथार्थमूलक आकलन जितना इधर हुआ है या हो रहा है, उतना पहले कभी नहीं हुआ । आधुनिक जीवन की विरूपताओं, विसंगतियों एवं विभीषिकाओं को साठोत्तरी रचनाकारों ने वैयक्तिक स्तर पर भोगा है और उसे कलागत निरपेक्षता एवं निर्ममता के साथ अपने उपन्यासों में अंकित किया है । ये उपन्यास अपने प्रारंभिक रोमानीपन, भावुकता, नैतिकता, उपदेशवादिता आदि दूषणों को छोड़ता हुआ यथार्थ के नये आयामों की सृष्टि में आगे बढ़ रहा है ।"[25]

डॉ० नेमिचन्द्र जैन ने आधुनिक उपन्यास की विशेषताओं को उद्घाटित करते हुए लिखा है : "पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में हिन्दी उपन्यास अपनी सार्थकता के लिए कई नये परिप्रेक्ष्य खोजता रहा है और अब इसमें व्यक्ति के आंतरिक सत्य का बाह्य परिवेश के साथ समंजन, रोमाण्टिक दृष्टि के बजाय जीवन के यथार्थ साक्षात्कार का प्रयास, भावुकता या भावप्रधानता के स्थान पर तीखापन, कलात्मक संयम और निर्ममता आदि विशेषताएं क्रमशः अधिकाधिक दीखने लगी हैं । अब उपन्यासकार प्रायः यह प्रयत्न करता है कि गहन से गहन अनुभूति की

अभिव्यक्ति के लिए भी साधारण जीवन के यथासंभव सहज और दैनन्दिन पक्षों का ही सहारा ले। बल्कि शायद उसे यह अनुभव हो सकता है कि गहनतम सत्य और उसकी अनुभूति साधारण जीवन में ही अधिक संभव है।"[26]

इधर उपन्यासों में जो परिवर्तन आया है, लेखक के दृष्टिकोण में जो अंतर आया है, भावुकता और रोमानीपन का स्थान कलागत तटस्थता ने लिया है, उसे रेखांकित करते हुए भारतीय सृजनात्मक साहित्य पर लिए गए एक सेमिनार में कमलेश्वर ने अपने एक प्रपत्र में पढ़ा था --

"Hindi novel in all these years, has undergone a drastic change, so far as it content is concerned. No more of the escapist romances now. Gone are the times when the novelist went on pouring his adolescent bickerings and dreams and tears on the pages of a book and asked the reader to shed an equal amount of the tears over the discription. Besides, the Hindi novelist of today refuses to accept the conclusions pertaining of values. His conclusions, flow from life itself."[27]

इधर ग्रामीण जीवन में जो बदलाव आया है उसे साठोत्तरी उपन्यासकारों ने उसके नग्न यथार्थ रूप में कहीं गहरे दर्द के साथ तो कहीं तीखी तल्ख व्यंग्यभरी चुभन के साथ व्यक्त किया है। "जल टूटता हुआ", "अलग अलग वैतरणी", "आधा गाँव", "राग दरबारी" प्रभृति उपन्यासों में

ग्रामीण जीवन की यह परिवर्तित छवि उभरकर आयी है । "अलग अलग वैतरणी" का विपिन ठीक ही कहता है : " "करैता" एक जीता-जागता नरक है, जिसमें वही आता है, जिसके पुण्य समाप्त हो जाते हैं । चारों ओर कीचड़, बदबूदार नाबदान, गू-मूत, बीमारियाँ, बुलबुलाते कीड़े, मच्छर, जहरीली मक्खियाँ -- इसके बीच भुखमरी, डरावनी हड्डियों के ढाँचे, किचरीली आँखों और बीमारी से फूले पेटवाले छोकरे, घरों में बन्द गन्दगी में आपाद-मस्तक डूबी औरतें जो एक दूसरे को खुले आम चौराहे पर नंगियाने में ही सारा सुख और खुशी पाती हैं, धुंधवाते मनके अपाहिज जैसे नवयुवक, जो अन्धेरी बन्द गलियों में बदफेली करनेका मौका ढूँढते फिरते हैं, हारे-थके प्रौढ, जो न गृहस्थी के जुए को उतार पाते हैं, न उसमें उत्साह से जुत पाते हैं । मौत का इन्तज़ार करते बुड्ढे अपने ही बेटों - बेटियों से उपेक्षित बिलबिलाते रहते हैं :- यही है हमारी जन्मभूमि करैता ।"[28]

आजकल एक नये प्रकार का "अनत गौन"[29] चल रहा है । अब गाँवों में केवल वे ही रहते हैं जो वहाँ रहना नहीं चाहते पर कही जा नहीं सकते । दूसरी ओर गाँवों से ऐसे लोग जा रहे हैं जो वहाँ रहना तो चाहते हैं पर रह नहीं पाते । यह समस्या कुछ हद तक हमारे देश की भी है । हमारे देश का बुद्धिधन शनै: शनै: विदेश जा रहा है । डॉ• चन्द्रशेखर, डॉ• नार्लीकर, डॉ• खुराना आदि प्रसिद्ध वैज्ञानिक इसके ज्वलंत उदाहरण है । गाँवो की प्रतिभा शहरों की ओर बढ़ती है, जिसमें गाँव टूट रहे हैं, मूल्य टूट रहे हैं -- नहीं टूटता है केवल जड़ता का अन्धकार ।

"अलग - अलग वैतरणी" में बिसू द्वारा गाया गया यह दोहा हमारे मनोमस्तिष्क पर बार-बार गूँज जाता है :

सर सूखे पंछी उड़ैं, और नि सरहिं समाहिं ।

दीन मीन बिनु पंख के, कहु रहीम कहं जाहिं ।।[30]

और तब जग्गन मिसिर के ये शब्द स्मृति-पटल पर बार-बार कौंध जाते हैं -- "आप जा रहे हैं विपिन बाबू, जाइये । कोई इसके लिए आपको दोष भी नहीं देगा । सभी जाते हैं । हमारे गाँवों से आजकल इकतरका रास्ता खुला है, निर्यात, सिर्फ निर्यात । जो भी अच्छा है, काम का है, वह यहाँ से चला जाता है । अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है । अच्छे मोटे-ताजे जानवर, गाय, बैल, भेड़-बकरे जाते है । हट्ठे-कट्ठे मजबूत आदमी जिनके बदन में ताकत है, देह में बल है, खींच लिये जाते हैं पल्टन में, पुलिस में, मलेटरी में, मिल में । फिर वैसे लोग जिनके पास अकल है, पढ़े-लिखे हैं ,यहाँ कैसे रह जायेंगे । वे जायेंगे ही । जाना ही होगा ।"[31]

"युगीन चेतना" के अंतर्गत निर्दिष्ट स्थितियों के दबाव के परिणामस्वरूप मानव-संबंधों में भी एक विशिष्ट बदलाव आया है । ग्राम, नगर तथा महानगर के त्रिस्तरीय परिवेश में इस बदलाव की असंख्य मुद्राएँ उभर रही हैं । ये मुद्राएँ अधिकांशत: आर्थिक स्तर पर झेले जा रहे संघर्ष की पृष्टभूमि में निम्न मध्यवर्गीय समाजमें विशेष रूप से उपलब्ध होती हैं । इसमें आधुनिक शिक्षित नारी के सम्बन्धों का एक टूटता, बनता-बिखरता संसार है । अवसरवादी समझौतापरक तत्त्वों का शिकार होकर पुरुष इसमें अधिकाधिक जड़ एवं भावनाहीन हो गया है । "पचपन खम्भे

लाल दिवारे" , "रूकोगी नहीं राधिका ", "टेराकोटा", "बेधर", "डाक बंगला" प्रभृति उपन्यासों में इन परिवर्तित मुद्राओं को लक्षित किया जा सकता है । डॉ अतुलवीर अरोड़ा के शब्दों में --

"सम्बन्धों का यह संसार केवल स्त्री-पुरूष, पति-पत्नी अथवा प्रेमी--प्रेमिका का संसार नहीं है, प्रत्युत इसकी पकड़ समूचे मानवी-सन्दर्भ, मानवीस्थिति एवं मानवी-परिप्रेक्ष्य पर है । इन्हें व्याख्यायित करने के लिए आज के हिन्दी उपन्यासकार को अनुभवों के व्यापक धरातलों पर से गुजरना पड़ा है और कई बार "अनुभूति की प्रामाणिकता" के प्रकाशन के लिए वह अपने ही जीवन की कथाएँ कहता और जुटाता चला गया है । इस बिंदु पर उसकी रचना-मुद्रा पैने दंश से भरपूर है ।"[32]

पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता तथा चिंतन ने व्यक्ति को नितान्त अकेला, निस्सहाय व अजनबी बना दिया है । विगत दो युद्धों की विभीषिका ने उसकी आस्था को झकझोर डाला है । व्यक्ति नितान्त आत्म केन्द्रित व भौतिक होता जा रहा है, साथ ही दोहरे जीवन-मूल्यों ने, या कहीं कहीं मूल्यहीनताने, व्यक्ति के दोगलेपन व खोखलेपन को अनेकगुना बढ़ा दिया है । " भीतर खाली खनखने, बाहर मचता शोर" वाली स्थिति चतुर्दिक दृष्टिपथ पर मंडरा रही है । "वे दिन", "दूसरीतरफ" , "अन्धेरे बन्द कमरे", "न आने वाला कल", "बैसाखियोंवाली इमारतें ", "टूटती इकाइयाँ", "एक पति के नोट्स", प्रभृति उपन्यासों में इस दिशाहारा पीढ़ी के अजनबीपन एवं रीतापन को रूपायित किया गया है । इन उपन्यासों में स्त्री-पुरूष, पति-पत्नी तथा प्रेमी-प्रेमिका के मिथुन-सम्बन्धों

पर एक खुला दृष्टिपात भी किया गया है । कहीं कहीं पर स्त्री की "भोग्या" के स्थान पर "उपभोक्ता" छवि भी उभर आयी है, जैसे "वे दिन" में । "वे दिन" की रायना प्रेम को शरीर की एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में ही लेती है । "प्रेम" से उसका तात्पर्य केवल "शारीरिक-सम्बन्ध" है । इस पूरे कार्य-कलाप में वह निस्संग रहती है । अक्सर दूसरे शहरों में वह अपना मन-पसन्द साथी ढूँढ लेती है । वह ज्यादा दिन अकेले नही रह सकती । इस सम्बन्ध में, वह नैतिकता के प्रश्न को भी बीच में नही लाती, क्योंकि दूसरे को यदि पछतावा न हो तो वह उसमें कोई बुराई नहीं देखती ।[33]

साठोत्तरी उपन्यासों की एक और विशेषता है -- साधारण मनुष्य की अवधारणा । यह अवधारणा इधर के उपन्यासों में अधिकाधिक उभरती गई है । मनुष्य की इस मुद्रा को कुछ लोगों ने "लिटिल मैन" 'little man' भी कहा है । इसका विरोध करते हुए डॉ॰ रमेश कुंतल मेघ ने समुचित ही लिखा है -- "कुल मिलाकर मेरा एक दिन का जीवन एक मामूली आदमी का जीवन है । इस तरह सबसे पहले मैं एक व्यक्ति — "मामूली" हूँ, मैं न महान मानव हूँ, ना ही लघु मानव । यदि हूँ तो एक मानव, एक भाव-विशेष का अनुभव करनेवाला ।"[34]

साठोत्तरी उपन्यास के साथ "आधुनिक भावबोध" की चर्चा असंदिग्ध रूप से जुड़ी हुई है, अत: उस पर एक विहंगम दृष्टिपात कर लेना उचित ही होगा । सामान्यत: "आधुनिक" शब्द का प्रयोग साम्प्रतता के सन्दर्भ में किया जाता है । जब हम हिन्दी साहित्य का

"आधुनिक काल" कहते हैं, तो इधर के सो - डेढ़-सौ वर्षों का जो साहित्य है, उस पर हमारी दृष्टि जाती है । परन्तु इधर की आलोचना में आधुनिकता या "आधुनिक भाव बोध" का जो उल्लेख मिलता है वह केवल साम्प्रतता के सन्दर्भ में नहीं है । अंग्रेजी में जिसे Modernity कहा जाता है, उसका तात्पर्य वर्तमानकालीन या समसामयिक से कतई नहीं है । यदि कोई लेखक इस युग में भी सनातनी विचारधारा या पुरानी रूढ़िवादिता को लेकर चलता है, तो उसकी रचनाओं का उल्लेख "आधुनिक काल" के अंतर्गत तो होगा, किन्तु उन रचनाओं को आधुनिक भावबोध से संपन्न नहीं माना जाएगा । वैसे ही आधुनिककाल का कोई कवि नारी-सौन्दर्य का चित्रण रीतिकालीन ढाँचे पर करता है, तो उसकी कविता आधुनिकता से रहित मानी जाएगी । इस प्रकार "आधुनिक" और "आधुनिकता" में कुछ संदर्भगत अंतर है ।

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल तो नवजागरणकाल (सन् 1850 के आसपास) से माना जाता है, किन्तु जहाँ तक आधुनिकता का सवाल है, उसकी चर्चा सन् 1945 के बाद से मिलती है, और विशेष चर्चा तो सन् साठ के बाद से ही उपलब्ध होती है । आधुनिकता को लेकर एक भ्रम यह भी है कि जो रचनाएँ नगरीय परिवेश को लेकर लिखा गई है, जिसमें आधुनिक सभ्यता, फैशन, सभा-सोसायटी-क्लबों का वर्णन, अंग्रेजी शब्दावली आदि का प्रयोग मिलता है, उन्हें आधुनिकता से संपन्न माना जाय । किन्तु यह धारणा भ्रामक है । इस दृष्टि से तो रेणु का "मैला आँचल", डॉ॰ शिवप्रसादसिंह का "अलग अलग वैतरणी", डॉ॰ राही मासूम

रज़ा का "आधागाँव" श्रीलाल शुक्ल का "राग दरबारी" तथा नागार्जुन की सभी रचनाओं को आधुनिकता से रहित माना जाएगा । किन्तु ऐसा नही है । ग्रामीण परिवेश को लेने मात्र से किसी लेखक को "पुराना" और शहरी परिवेश को लेने मात्र से किसी लेखक को "नया" नहीं करार दिया जा सकता । यह तो बिलकुल ऐसा ही हुआ कि किसी ग्रामीण अनपढ़ लड़की को आधुनिक बेशभूषा से सज्ज करके उस पर आधुनिकता का "लेबल" लगाया जाय । केवल बाहरी रूप सज्जा, पहनावा, बाहरी व्यवहार आदि से कोई व्यक्ति आधुनिक भावबोध संपन्न नहीं हो जाता । कईबार कुछ लोग कपड़ों के लेटेस्ट फैशन में भी पोंगापंथी नजर आते हैं । बाहरी स्टाइल आधुनिक है । आधुनिक उपकरणों का प्रयोग हो रहा है, किन्तु व्यक्ति आधुनिक नहीं है । व्यवहार में तो वह वही राजौर, गौड़, सरयूपारी, कनौजिया, कड़ुआ, मीठा, लेउवा, पटेल, अमीन आदि है । अतः हम कह सकते हैं कि बावजूद इस आधुनिक लिबास के वह आदमी बूर्जुआ है, पुराना है । उसकी तुलना में आधी धोती पहननेवाला गाँधी कई गुना ज्यादा आधुनिक माना जाएगा ।

तात्पर्य यह कि आधुनिकता का सम्बन्ध एक विशिष्ट प्रकार के सोच व चिंतन से जुड़ा हुआ है । 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी में फ्रायड, एडलर, युंग, पावलोव, हेवलोकएलिस, जीन पायागेट जैसे मनोवैज्ञानिक, मार्क्स, एँजिल, लेनिन, माओ, नित्शे, किर्कगार्द, गाँधी, कामू काफ्का, सार्त्र जैसे चिंतक व सर्जक, जगदीशचन्द्र बोझ, डॉ· सी·वी· रामन, स्टीवेन्सस, आइनस्टाइन, डॉ· भाभा जैसे

वैज्ञानिकों के कारण जीवन और जगत विषयक दृष्टिकोण बदला है । यह बदला हुआ दृष्टिकोण आधुनिकता से जुड़ा हुआ है ।[35] मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, गांधीवाद आदि की चिंतनधाराएं उसके साथ जुड़ी हुई हैं । इस सम्बन्ध में डॉ• इन्द्रनाथ मदान के विचार प्रस्तुत है : "बीसवी सदी में आलोचना की अनेक धारणाओं का विकास हुआ है जिनमें भाषागत और शैली गत आलोचना, अस्तित्ववादी आलोचना, रूपवादी आलोचना, मिथकीय आलोचना को गिना जाता है । इनके मूल में आधुनिकता की चुनौती है और इनमें आपसी विरोध भी है ।[36] x x x आधुनिक कृतियों के सूत्रों को उजागर करने में इनकी आलोचना आधुनिकता के बोध को इस तरह लिये हुए है -- §1§ कला का अमानवीयकरण §2§ वास्तव के जीवन्त रूप की अवहेलना, §3§ कलाकृति नितान्त कलाकृति, §4§ कला एक खेल है, §5§ कृति मुल रूप में व्यंग्यात्मक है, §6§ झूठ से सावधानी, §7§ अनुभूति की चाह ।"[37]

आज साहित्य का मूल्यांकन नीतिवादी या रूढ़िवादी मानदण्डों पर नहीं होता । कई पौराणिक मान्यताओं और मिथक कल्पनाओं को भी नये ढंग से सोचा जाता है । इस दृष्टि से डॉ• नरेन्द्र कोहली के रामकथा पर आधारित उपन्यास "दीक्षा", "अवसर" "संघर्ष की ओर" तथा "युद्ध" उल्लेखनीय हैं । डॉ• विजयेन्द्र स्नातक ने इस सम्बन्ध में लिखा है :- "कहना न होगा, कि लेखक ने रामकथा को नया संदर्भ, नई जमीन, नये चिन्तन, नई सूझ-बूझ से जीवन्त बनाने में कोई कसर उठा नहीं रखी है ।"[38] रामायण के अनेक पात्रों व घटनाओं को लेखक ने

नये सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखनेका श्लाघनीय प्रयत्न किया है । यहाँ ऐसे दो एक पात्रों के सम्बन्ध में स्वयं लेखक के विचार उल्लेखनीय हैं --

"हमारे सारे मिथकों में महान शस्त्रों के देनेवाले शिव है । निश्चित रूप से वे एक विकसित शस्त्रशाला (Ordinance Factory) के प्रतीक हैं । अत: यह शिवधनुष भी कोई विचित्र यंत्र ही होना चाहिए, जिसे सीरध्वज ने युद्ध में प्रयुक्त नहीं किया और शोभा की वस्तु बना दिया, जिसे सैंकडों मनुष्य और पशु खींचकर रंगस्थली में लाते हैं, और पसीना-पसीना हो जाते हैं । मैंने शिव-धनुष को, आधुनिक टैंक जैसे किसी यंत्र के रूप में स्वीकार किया है । यह प्रत्येक बात का हठपूर्वक आधुनिक समाधान देने का प्रयत्न नहीं है, यह शिव के महान शस्त्र-निर्माता रूप को दृष्टि में रखकर, आगे की घटनाओं की पृष्ठभूमि - स्वरूप, की गई कल्पना है । राम-रावण के अंतिम युद्ध तक देवताओं और राक्षसों द्वारा, शिव से शस्त्रास्त्र प्राप्त करते रहने की होड़ लगी रहती है -- जैसे आज के युग में, छोटे देश, रूस तथा अमरीका जैसी महाशक्तियों से शस्त्र माँगते ही रहते हैं ।"[39]

उसी प्रकार परशुराम के सम्बन्ध में भी लेखक के विचार आधुनिक चिंतन से जुड़े हुए हैं -- "वे {परशुराम} मेरे लिए, किसी एक क्षेत्र में प्रतिष्ठित, समयातीत हो चुके जड़ पात्र हैं, जो अपने ही क्षेत्र की नई शक्तियों की ओर से, आँखे बन्द रखते हैं । वे अपने क्षेत्र के नवागंतुकों के लिए, प्रोत्साहन कम और आतंक अधिक होते हैं । वे साहित्यकार भी हो सकते हैं और क्रांतिकारी भी ।"[40]

साठोत्तरी उपन्यासों की एक अवधारणा अजनबीपन की भावना है । आधुनिक मनुष्य प्रकृति, ईश्वर और समाज से कट गया है । संभवत: यह संसार के इतिहास में पहली बार हुआ है कि जब मनुष्य एक तरफ दूसरे ग्रहों पर अपना निवास बनाना चाहता है, परन्तु दूसरी तरफ अपने ही संसार से उसका सम्बन्ध टूट रहा है । एक तरफ वह समूचे विश्व से परिचित है, पर दूसरी तरफ वह अपने पडोसी से भी अपरिचित है । चारों तरफ आबादी बढ़ रही है, भीड़ बढ़ रही है, किन्तु इस भीड़ में आदमी अपने आपको अजनबी महसूस कर रहा है । डॉ॰ विद्याशंकर राय के शब्दों में -- "प्रौद्योगिकी के द्रुत विकास से जहाँ जीवन में व्यस्तता आई है वहीं खालीपन भी उभरा है । इस नये प्रकार के अवकाश से जीवन में तनाव और उत्तेजना की वृद्धि हुई है, कभी न समाप्त होनेवाली ऐसी बैचैनी और ऊब का जन्म हुआ है जिसका किसी प्रकार शमन नहीं किया जा सकता अत: जीवन में रिक्तता का अनुभव होता है ।"[41] इस अजनबीपन के साथ अस्तित्ववादी विचारधारा भी जुड़ी हुई है । मृत्युबोध, निरीश्वरवादिता, मनुष्य की विवशता, स्वतंत्रता आदि कुछ मुद्दों पर अस्तित्ववादी चिंतक जोर देता है । अस्तित्ववादी चिंतक प्रेम को भी मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधक मानता है, क्योंकि प्रेम करनेवाला व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार के बन्धनों में जकड़ा जाता है और अपने व्यक्तित्व का बलिदान दे बैठता है । अत: "वे दिन" की रायना कभी किसी से प्रेम नहीं करती । प्रेम से उसका विश्वास उठ चुका है । अपनी आवश्यकतानुसार वह परपुरुषों से शारीरिक सम्बन्ध जोड़ती-तोड़ती है । अब वह उपभोगक नहीं, उपभोक्ता है । "वे दिन", "अपने अपने अजनबी",

"दूसरी तरफ", "लाल टीन की छत", "अन्तराल" प्रभृति उपन्यासों में हमें यह अस्तित्ववादी चिंतन और अजनबीपन का भाव मिलता है ।

ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है कि आज का लेखक परंपरागत नैतिक प्रतिबद्धता को अस्वीकार करता है । अतः यथार्थ का आकलन वह निस्संग एवं निरपेक्ष ढंग से करता है । पात्र व घटनाओं के प्रति उसका दृष्टिकोण अनालोचनात्मक होता है । वह पाठक और रचना के बीच व्यवधान बनना पसंद नहीं करता । इस सन्दर्भ में इलियट के निरपेक्षतावाद की चर्चा भी होती है । इसमें इलियट ने रचनाकार की निस्संगता - निरपेक्षता पर बल दिया है । रचनाकार को अपनी रचना-सृष्टि से ऊपर उठना होगा । यदि उसकी नैतिकता उसके पूर्वाग्रह रचना पर हावी हो जाते हैं, तो उससे रचना की कलात्मकता को व्याघात पहुँचता है । इलियट का कथन इस प्रकार है : "रचनाकार और भोगनेवाले व्यक्ति (रचनाकार की सृष्टि में चित्रित व्यक्ति) में सदैव एक अलगाव की स्थिति बनी रहती है, और यह अलगाव जितना ही अधिक होता है, उतना ही महान वह रचनाकार होता है ।"[42] यहाँ व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को कला न मानकर सतत निर्वैयक्तिकता को ही कला का आदर्श माना गया है । नवयुवक और अप्रौढ़ लेखकों की रचना में तो लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है, लेकिन कुशल कलाकारों में उनके कलात्मक सृजन और सृजनात्मक मस्तिष्क में भिन्नता ही रहेगी ।[43] इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि लेखक या कवि अपने अनुभव - भोगे हुए यथार्थ - का चित्रण न करें, वरन् उससे तो रचना की सप्राणता में वृद्धि ही होगी । शर्त यही है कि इस अनुभव - चित्रण में लेखक निरपेक्ष रहे । उदाहरण के तौर पर जैसे किसी लेखक को पूंजीपति-वर्ग से वितृष्णा है, अब यदि यह

वितृष्णा उसकी कृतियों पर हावी हो जाती है तो वह कलाकार के पद से अपदस्थ हो जाता है । उस स्थिति में वह तटस्थ नहीं रह पाएगा और जितने अंश में वह तटस्थता चूकेगा उतने परिमाण में उसकी रचना यथार्थ से दूर जाएगी । साठोत्तरी उपन्यासों में इस निरपेक्षता पर विशेष बल दिया गया है । लेखक रायना §वे दिन§, इरा §डाक बंगला§, मिति §टेराकोटा§, हरबंस, सूदन §अंधेरे बन्द कमरे§ प्रभृति पात्रों का निरपेक्ष चित्रांकन प्रस्तुत करते हैं । इन पात्रों के प्रति उनका दृष्टिकोण भी अनालोचनात्मक है । पाठक अपनी समझ, अपने वैचारिक स्तर, अपनी बौद्धिकता या भावुकता के अनुसार उन पात्रों व स्थितियों को ग्रहण करते हैं ।

आज का रचनाकार इस सृष्टि को किन्हीं विशेष नियमों से परिचालित व नियोजित नहीं मानता । वह अपने ढंग से, अप्रत्याशित रूप से विकसित हो रही है । अत: आजका कलाकार भी कथा का कोई विशिष्ट ढाँचा लेकर नहीं चलता । कथा का प्रारूप पहले से ही तैयार कर देने से पात्र रचनाकार के इशारों पर नाचते हैं, उनकी सहजता, स्वाभाविकता, सप्राणता अतएव यथार्थता नष्ट हो जाती है तथा उपरिनिर्दिष्ट कलागत निरपेक्षता या निर्वैयक्तिकता नहीं रह जाती । पूर्वनियोजित प्रारूपवाले उपन्यास किस्सागो शैली के अंतर्गत आते हैं । सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में यह किस्सागो शैली मिलती है और इसलिए उनके उपन्यासों की गणना आधुनिक भावबोध संपन्न साठोत्तरी उपन्यासों में नहीं की जाती । परन्तु बावजूद इस किस्सागोशैली के इधर के

दो-तीन उपन्यासों में साठोत्तरी चेतना उपलब्ध होती है । "प्रश्न और मरीचिका" में साठोत्तरी मोहभंग की स्थिति का चित्रण है । "रेखा" में लेखक ने आधुनिक मनोविश्लेषणवादी ढंग अपनाया है । "रेखा" का चरित्रांकन भी अनालोचनात्मक दृष्टिकोण से हुआ है । "सबहिं नचावत राम गोसाईं" में साठोत्तरी व्यंग्यात्मकता को रेखांकित किया जा सकता है । अत: इन उपन्यासों की चर्चा प्रस्तुत प्रबन्ध के अंतर्गत की गई है ।

यथार्थधर्मिता के साथ प्रयोगधर्मिता भी साठोत्तरी चेतना का एक अंग है । साठोत्तरी कथाकार वस्तु, चरित्र, शिल्प एवं भाषा सभी स्तरों पर नवीन प्रयोगों की ओर अग्रसर हो रहा है । किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह नवीन प्रयोग रचनाधर्मिता का एक अभिन्न अंग होकर आने चाहिए । केवल प्रयोग के खातिर प्रयोग अच्छा खासा तमाशा तैयार कर सकते हैं । गंभीर रचना का रूप वे नहीं ले सकते । परंतु प्रयोग जब रचना की अनिवार्य शर्त बनकर आते हैं, तब रचना की गरिमा-गौरव में वे संवर्द्धन ही करते हैं । इवान वाट महोदय ने इसी ओर संकेत करते हुए कहा है कि मानव अनुभव की ईमानदारी को सम्प्रेषित करना उपन्यासकार का प्रथम कर्तव्य है, अत: पूर्वस्थापित कोई भी रूढ़ि या तरीका उसकी सफलता के लिए खतरा है ।[44] "राग दरबारी", "एक चूहे की मौत", "जंगलतंत्रम्", "कथा-सूर्य की नयी यात्रा", "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई", "रानी नागफनी की कहानी" प्रभृति उपन्यास अपने नवीन कथा-शिल्प एवं प्रयोगधर्मिता के कारण आलोच्यकाल में उल्लेखनीय हो जाते हैं ।

साठोत्तरी साहित्य में व्यंग्य सर्वाधिक रूप से उभरकर आया है। कविता, कहानी, निबन्ध, उपन्यास सभी में उसने अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया है। कुछ लोग व्यंग्य को एक स्वतंत्रविधा के रूपमें मानते हैं। साम्प्रतिक साहित्य की व्यंग्योन्मुखता को लक्षित कर कदाचित वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं। परंतु कुछ विचार करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि "व्यंग्य" विधा न होकर सभी साहित्यिक विधाओं की एक विशिष्ट शैली है। तभी तो उसका प्रयोग सभी साहित्य-रूपों में हो रहा है। पूर्वनिर्दिष्ट युगीन चेतना के अंतर्गत यह व्यंग्योन्मुखता सहज एवं स्वाभाविक है। उपन्यासों में व्यंग्य तो पहले भी मिलता था, परन्तु इधर कुछेक ऐसे उपन्यास भी आये हैं जिनमें यह व्यंग्य आद्यंत मिलता है। "राग दरबारी", "एक चूहे की मौत", "कथा-सूर्य की नयी यात्रा", "कुरु-कुरु स्वाहा", "नेताजी कहिन", "दिल एक सादा कागज", "गोबर गणेश", "कागज की नाव" प्रभृति ऐसे ही उपन्यास हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में पूर्व-निर्दिष्ट साठोत्तरी उपन्यासों के व्यंग्य-विधान के कतिपय पक्षों पर विचार किया गया है।

साठोत्तरी उपन्यासों के उपरिनिर्दिष्ट विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित आयामों को विशेषतः रेखांकित कर सकते हैं : (1) यथार्थधर्मिता, (2) आधुनिक भावबोध, (3) कलागत सूक्ष्मता, (4) अरोमानीवृत्ति, (5) कलागत निरपेक्षता, (6) अजनबीपन का भाव और अस्तित्ववादी प्रभाव, (7) प्रयोगधर्मिता या प्रयोगशीलता, (8) व्यंग्यात्मकता, (9) नवीन भाषिक संरचना (10) अनालोचनात्मक दृष्टिकोण (11) अनासन्न लेखकत्व आदि।

व्यंग्य : स्वरूप विवेचन :-

आजकल कोई भी पत्र-पत्रिका उठा लें उसमें व्यंग्य पर कुछ न कुछ सामग्री अवश्य होती है । कई अखबारों में तो उसके लिए कुछ स्तंभ ही निश्चित कर दिए गए हैं । "गुजरात समाचार" में बकुल त्रिपाठी (गुजराती व्यंग्यकार) द्वारा लिखित कक्को अने बाराखड़ी" इमरजन्सी के कुछ दिनोंको छोड़कर नियमित रूप से प्रतिदिन आता रहा है । हर सोमवार को बकुल त्रिपाठी का ही "सोमवार नी सवारे" प्रकाशित होता है । इसी प्रकार "संदेश" में प्रकाशित होनेवाले "इदमृत्तृतीयम" (विनोद भट) तथा "एक डाह्या नी दोढ़ डायरी" (प्रो॰ डाह्यालाल) भी व्यंग्य स्तम्भ हैं । हरिशंकर परसाई के उल्टी-सीधी के व्यंग्य-लेख भी पहले पत्रिकाओं के माध्यम से आये बाद में उन्हें ग्रंथस्थ किया गया । "नेताजी कहिन" के व्यंग्य-चित्र भी पहले "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" में आते रहे । "दिनमान" में "चलते चलते" में भी ताजा वाकियात पर व्यंग्य टिप्पणी आती है । धर्मयुग में आबिद सूरती का व्यंग्य-चित्र "कोना ढब्बूजी" नियमित छपता है । हिन्दी की अन्य पत्रिकाओं में भी, जैसे सारिका, गंगा, सरिता आदिमें व्यंग्य-स्तम्भ अवश्य होता है ।

डॉ॰ बरसानेलाल चतुर्वेदी के शब्दों में -- "पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी व्यंग्य साहित्य का उन्नयन हुआ है । कतिपय पत्र-पत्रिकाएं नियमित रूप से एक निश्चित स्तम्भ के अंतर्गत समकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं पर व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ देते रहते हैं । दिल्ली से प्रकाशित दैनिक "हिन्दुस्तान" का "यत्र-तत्र-सर्वत्र" शीर्षक स्तम्भ अत्यधिक

लोकप्रिय हुआ है । "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" "ताल-बेताल" कालम में तथा धर्मयुग साप्ताहिक"बैठे-ठाले" कालम में व्यंग्यात्मक साहित्य प्रकाशित करते रहते हैं । इसके अतिरिक्त समय समय पर व्यंग्य-काव्य भी प्रकाशित करते हैं । लखनऊ के दैनिक "स्वतंत्र भारत" का "काँव-काँव" कालम, दैनिक "नवभारत टाइम्स" का "राम झरोखा" कालम, "कल्पना" मासिक का "और अन्त" में कालम बराबर व्यंग्य साहित्य प्रकाशित करते हैं ।" "रंग" मासिक रामावतार चेतन के सम्पादकत्व में बम्बई से पिछले कई वर्षों से निकल रहा है जो हास्य-व्यंग्य की एक प्रमुख-पत्रिका है । इसके लोकप्रिय स्तंभों में "चित्रपट", "पूछ-पुछैल्ला", "हँसगुल्ले" तथा पुस्तक-परिचय है ।[45]

व्यंग्य : शब्द की व्याख्या एवं प्रचलन :-

"व्यंग्य" शब्द की व्युत्पत्ति "वि + अंग" से मानी गयी है । व्यक्ति, समाज या वस्तु का कोई भी अंग जब अपने उपयुक्त स्थान पर नहीं होता तब वह व्यंग्य का आलंबन बन जाता है । "सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षिक प्रभृति क्षेत्रों में व्याप्त विसंवादिता, विषमता, विद्रूपता एवं विकलांगता की पंकिल भूमि में व्यंग्य के कमल खिलते हैं ।"[46]

संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य के आचार्यों ने हास्य रसका विवेचन एवं विश्लेषण पर्याप्त मात्रा में किया है । यहाँ डॉ बलदेवप्रसाद मिश्र के ये विचार उल्लेखनीय हैं कि "भारत के साहित्यशास्त्रियों ने हास्य रस के वस्तुपक्ष {विषय पक्ष} पर अधिक ध्यान दिया और विलायत के साहित्यशास्त्रियों ने उसके व्यंजना पक्ष पर । वस्तुपक्ष में भी विशुद्ध हास्य-भाव के विश्लेषण की

और बहुत कम ध्यान गया •• •• हास्य के व्यंजना - पक्ष पर जोर देने वाले विलायत के साहित्य-शास्त्री उसके पाँच प्रमुख भेद मानते हैं जिनके नाम हैं --ह्यूमर §हास्य§, विट §वाग्वैदग्ध्य§, सटायर §व्यंग्य§, आइरनी §वक्रोक्ति§ और फार्स §प्रहसन§ ।"[47]

डॉ वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता ने अपने शोधप्रबन्ध "आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यंग" §1857-1907§ में "व्यंग्य" के स्थान पर "व्यंग" शब्द लिया है । "अंग्रेजी में साहित्य का जो रूप "सेटायर" § Satire § नाम से प्रसिद्ध है, हिन्दी में उसके लिए विकृति, उपहास, व्यंग्य तथा व्यंग चार शब्द प्रयोग में लाए गए हैं । विभिन्न विद्वानों ने "सेटायर" के लिए अलग - अलग शब्दों का प्रयोग किया है । किन्तु अब इस शब्द के लिए व्यंग्य और व्यंग ही अधिक प्रचलित हैं । इन दोनों शब्दों का "सेटायर" के लिए प्रयोग हिन्दी साहित्य में समान रूप से पाया जाता है । सामान्यत: व्यंग्य और व्यंग के शब्दार्थों में भी विशेष अंतर नहीं है । अत: दोनों शब्दों में से किसी एक को "सेटायर" के समानार्थक शब्द के रूप में चुना जा सकता है । संस्कृत साहित्य में "व्यंग्य" शब्द व्यंजना शक्ति द्वारा प्राप्त, साधारण से कुछ भिन्न अर्थ के रूप में ही प्रयुक्त होता रहा है । इसी अर्थ में व्यंग्य शब्दका प्रयोग हिन्दी में बहुलता से होता है । इसलिए उपयुक्त होगा कि व्यंग्य शब्द को संस्कृत कसे चले आ रहे परम्परागत अर्थ को व्यक्त करनेके लिए नियत मानकर "सेटायर" शब्द के अर्थबोध के लिए "व्यंग" शब्द का प्रयोग रूढ़ किया जाए ।"[48]

गुजराती में भी इसके लिए "व्यंग" शब्द प्रयुक्त होता है । किन्तु हिन्दी के अधिकांश विद्वानों द्वारा "व्यंग्य" शब्द प्रयुक्त होने के कारण प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में "व्यंग्य" शब्द को ही रखा गया है । डॉ· नगेन्द्र ने भी "सैटायर" का पर्यायवाची शब्द "व्यंग्य" ही माना है ।

डॉ· रामकुमार वर्मा ने अपने एकांकी संकलन "रिमझिम" की भूमिका में हास्य के भेदों में "आइरनी" को व्यंग्य शब्द का समानार्थक माना है तथा "सैटायर" को विकृति का । डॉ बरसानेलाल चतुर्वेदीजी ने इस पर अपनी असहमती प्रकट करते हुए लिखा है : "हम इससे इसलिए सहमत नहीं है कि "आइरनी" के लिए हिन्दी में वक्रोक्ति (अलंकार नही) शब्द अधिक उपयुक्त है जिसका अर्थ है वक्र उक्ति । विकृति शब्द "सटायर" के लिए इसलिए समीचीन नहीं है क्योंकि विकृति तो हास्य, वचन-वैदग्ध्य वक्र उक्ति, प्रहसन तथा व्यंग्य सब के लिए ही आवश्यक आधार है ।[49]

डॉ· हरदेव बाहरी ने अपने कोश में "सटायर" के लिए प्रहसन काव्य, विद्रूपात्मक साहित्य, व्यंगिका और व्यंग्य शब्द दिये हैं । हिन्दी साहित्यकोश "सटायर" को व्यंग्य-गीति कहता है और पैरोडीको इसीका एक रूप मानता है, यथा-- "व्यंग्य गीति - अंग्रेजी के सैटायर के आधार पर निर्मित शब्द, यद्यपि इस प्रकारकी रचनाओं का अभाव कभी नहीं रहा । x x x सैटायर द्वारा किये गये चुहल और परिहास का सम्बन्ध गीति से बाद में हो गया । सैटायर गीति का भेद नहीं है, बल्कि कुछ गीत व्यंग्यात्मक होते हैं x x x इसका एक रूप है पैरोडी । x x x विडम्बनागीत नामकरण प्रिंसिपल मनोरंजनप्रसाद सिंह ने किया x x x

परिहासात्मक व्यंग्य-गीति में न तो किसी की विडम्बना रहती है और न सुधार का आवेश, बल्कि शुद्ध मनोविनोद की ओर लक्ष्य रहता है । व्यंग्यात्मक गीतियों की कोटि का एक गीतिरूप गाली है ।[50] विवाह के अवसर पर जेवनार के समय स्त्रियाँ गाली गाती हैं जो अरूचिकर, अश्लील, अभद्रोचित और भोंडी होती हैं ।"[51]

वस्तुत: "सटायर" तथा "प्रहसन" बिल्कुल भिन्न हैं । "प्रहसन" उपहास - परिहास, व्यंग्य आदिसे युक्त एक नाट्यरूप है । आजसे तीस-चालीस वर्ष पूर्व गुजरात में कुछ नाटक मंडलियाँ गाँव-गाँव जाकर नाटक करती थी । वे मंडलियाँ बड़े नाटकों के बीच मनो-विनोद के लिए "प्रहसन" रखती थी जिसे "फारस" कहा जाता था । गुजरात में मेहसाना जिल्ले के पाटन के पास मेरे गाँव "अगार" में आज भी हर साल "नायक" जाति के लोग जिसे हम "तरगाला" कहते हैं वो भवाई खेलने आते हैं । और दो महीने तक अलग-अलग नाटकों का "खेल" करते हैं । जिसमें "विदूषक" भी रहता है और "रंगलो-रंगली" जैसे दो पात्र भी रहते है जो "फारस" करते हैं । वस्तुत: "इसमें हास्यरस की प्रधानता रहती थी । इसमें एक ही अंक होता है । मुख और निर्वहण संधियाँ रहती है । "अंधेर नगरी" तथा "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" आदि इसके उदाहरण है ।"[52] उसी प्रकार व्यंग्य-गीति भी गीतिकाव्य का एक प्रकार है । "प्रहसन" और "व्यंग्य-गीति"को "सटायर" का पर्याय मानना तो अंग को ही अंगी मानने जैसा होगा । यहाँ डॉ॰ रणजीत का यह मत उल्लेखनीय है : " "व्यंग्य" शब्द भारतीय साहित्यशास्त्र में अपना एक

निश्चित परंपरागत अर्थ रखता है जो "सटायर" से कहीं अधिक व्यापक है इसलिए उसे व्यंग्य-काव्य या व्यंग्य-साहित्य कहना भी ठीक नहीं। ये दोनों शब्द वस्तुत: ध्वनिकाव्य के ही पर्याय हैं। "सटायर" को व्यंग्य-गीत कहना भी ठीक नहीं क्योंकि व्यंग्यात्मकता को गीत में सीमित करने की धारणा अपने आपमें बड़ी विडम्बनापूर्ण है। इसलिए उसके लिए सर्वाधिक लोक प्रचलित शब्द "व्यंग्य" ही स्वीकार कर लेना चाहिए।"[53]

व्यंग्य : परिभाषा :-

व्यंग्य की कई परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु उन सब में कुछ-न-कुछ समानता पाई जाती है। नीचे कुछ परिभाषाएँ प्रस्तुत है :-

(1) "एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका" में श्री रिचार्ड गार्नेट ने व्यंग्य को इन शब्दों में परिभाषित किया है -- "व्यंग्य की परिभाषा अपने साहित्यिक रूप तथा उचित शब्दावली में इस प्रकार हो सकती है : व्यंग्य मनोविनोद, हास्यास्पद, असामान्य के प्रति हंसी उड़ाना अथवा क्षोभ के भावों की सशक्त अभिव्यक्ति है, बशर्ते कि हास्य स्पष्टत: पहचाना जा सके और वह उक्ति साहित्यिक रूप से युक्त हो। हास्यहीन व्यंग्य निंदा, आक्षेप या गाली-गलौज और साहित्य-तत्व से रहित व्यंग्य महज़ एक भडैती - विदूषकी ठट्ठा मात्र है।"[54]

(2) "आक्सफर्ड इंग्लिश डिक्शनरी" में व्यंग्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है : "पद्यात्मक अथवा गद्यात्मक कृति जिसमें तत्कालीन दुर्गुणयुक्त हास्यास्पद या मूर्खतापूर्ण बातों का मजाक उड़ाया गया हो। कभी-कभी

इस विधा का उपयोग किसी व्यक्ति-विशेष अथवा व्यक्ति-समूहों की मूर्खताओं व दुर्गुणों की हँसी उड़ाने के लिए भी किया जाता है । अत: प्रत्यक्षत: उसका प्रयोजन ऐसी मूर्खताओं और दुर्गुणों को उद्घाटित कर उनका विरोध करना है ।"[55]

(3) अंग्रेजी के मान्य समालोचक श्री अेल॰ जे॰ पोट्स के अनुसार 'satire' शब्द लैटिन शब्द 'Satura (जिसका अर्थ गड़बड़झाला है) से विकसित हुआ । "सैतुरा" से कम से कम दो रूप विकसित हुए जिनमें से एक बाद में भी पद्य-निबन्ध के रूप में प्रचलित रहा । प्रारंभ में यह शब्द परनिन्दा के अर्थ में प्रयुक्त होता था, और अत: इस ऐतिहासिक अर्थ की छाया वर्तमान "स्टायर" शब्द पर भी पड़ी है । पर अब "स्टायर" केवल परनिंदा या गाली-गलौज नहीं है । शनै: शनै: उसका वह गाली-गलौज वाला रूप समाप्त हो गया । अब व्यंग्य में आलंबन के विकृत रूप का मजाक उड़ाया जाता है अथवा उसकी समानता किसी हास्यास्पद अथवा असाजिक तत्व से वचन-वैदग्ध्य की सहायता से की जाती है ।"[56]

(4) प्रसिद्ध व्यंग्यकार "स्विफ्ट" ने व्यंग्य की परिभाषा इस प्रकार दी है : "व्यंग्य एक प्रकार का शीशा है जिसमें देखनेवाले को अपने मुँह के अतिरिक्त प्रत्येक का मुँह दिखलाई पड़ता है । यही कारण है कि विश्व में व्यंग्य का स्वागत किया जाता है तथा बहुत कम लोग इससे अपने को पीड़ित अनुभव करते हैं ।"[57]

§5§ जॉन• एम• बुलिट ने व्यंग्य के इस व्यापक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है -- "मानव अथवा उसके आचारों की मूर्खताओं अथवा सदोषता पर किया गया साहित्यिक प्रहार - भले ही वह अच्छा हो या बुरा, सामान्य हो या विशिष्ट, सत्य हो या असत्य, क्रूर हो या हास्यास्पद, गद्यमय हो या पद्यमय - सब व्यंग्य शब्द के अंतर्गत आते हैं ।"[58]

§6§ मैथ्यु हागर्थ व्यंग्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं : "व्यंग्य चेतावनी देता है कि मनुष्य वह खतरनाक जानवर है जिसमें मूर्खतापूर्ण कार्य करने की असीमित क्षमता है और यदि व्यंग्य द्वारा इस सत्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति कर दी जाती है तो पर्याप्त है । मनुष्य के गौरव का वर्णन करना कवियों का कार्य है ।"[59]

§7§ हम्बर्ट वोल्फ महोदयने व्यंग्यकार की परिभाषा दी है : "व्यंग्यकार का स्थान उपदेशक तथा हाजिरजवाब के मध्य में होता है । यद्यपि व्यंग्यकार का उद्देश्य भी वही होता है जो उपदेशक का। किन्तु वह चयन - विदग्धता की सहायता से अपना कार्य करता है । उसे घृणा तथा प्यार दोनों ही करने चाहिए क्योंकि उसे अशिव के प्रति वितृष्णा उत्पन्न करनी है तथा शिव के लिए प्रेम । इस प्रकार वह एक फरिश्ते के कार्य में हाथ बँटाता है । व्यंग्यकार केवल सत्य की प्रतिष्ठा पर ही बल नहीं देता वरन् वचन-विदग्धता की सहायता से पाप का घड़ा फोड़ता है तथा ढोंग का पर्दाफाश करता है ।"[60]

ड्रायडन व्यंग्य का वास्तविक उद्देश्य शोधन द्वारा दोष-सुधार मानते हैं ।[61] आंग्ल कवि बायरन व्यंग्य के सम्बन्ध में काव्यात्मक ढंग से कहते हैं : "मूर्ख मेरी थीम हैं, व्यंग्य ही इसलिए मेरा काव्य हो ।"[62]

हिन्दी में व्यंग्य-विचार :

इस प्रकार के साहित्य के लिए हिन्दी में प्रयुक्त "व्यंग्य" शब्द अंग्रेजी के satire का ही पर्यायावाची शब्द है और प्राय: उसका विवेचन-विश्लेषण भी उसी सन्दर्भ में हुआ है । डॉ॰ नगेन्द्र ने भी "सटायर" का पर्यायवाची शब्द "व्यंग्य" माना है । यहाँ इस सन्दर्भ में हिन्दी के कुछ विद्वानों के विचार दृष्टव्य हैं --

हिन्दी के व्यंग्य साहित्य पर काम करनेवालों में डॉ॰ वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता का नाम उल्लेखनीय है । उनके शोध-प्रबन्ध "आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यंग"[63] की अवधि सन् 1857 से सन् 1907 तक की है जिसमें उन्होंने व्यंग्य और विडम्बना के अनेक पक्षों को उजागर किया है । व्यंग्य के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है : "व्यंग्य साहित्य का सम्बन्ध अधिकांशत: सामयिक समस्याओं से है । इस कारण व्यंग-साहित्य का जीवन अपेक्षाकृत संक्षिप्त होता है । x x x यदि व्यंग द्वारा साहित्यिक कृति के उदेश्य की पूर्ति हो तभी वह रचना व्यंग कहला सकती है । व्यंग का मस्तिष्क से सम्बन्ध होने के नाते यह साहित्य पद्य की अपेक्षा गद्य में ही अधिक प्रभावोत्पादक हो सकता है । xxx व्यंगकार अपने निश्चित आदर्शों की दृष्टि से मानव-जगत की विकृतियों पर प्रहार करता है । प्रहार करने से पूर्व एक व्यंगकार के लिए आवश्यक है कि इन विकृतियों के मूल कारणों से

अवगत हो तथा इनके कुप्रभावों पर विचार करे । इस चिन्तन और मनन से व्यंगकार अपने मनमें एक आदर्श की स्थापना करता है । व्यंगकार का आदर्श जितना सर्वमान्य तथा लोकप्रिय होगा उतना ही उसके प्रभाव का क्षेत्र विस्तृत होगा । व्यंगकार में जितनी अधिक नैतिक अंतर्दृष्टि होगी उतना अधिक वह अनैतिकता के प्रति रोष प्रकट कर सकेगा । विकृतियों का विश्लेषण जितना अधिक सूक्ष्म होगा उतना उस व्यंग का प्रभाव गहरा होगा । प्रहार जितनी दक्षता तथा कुशलता के साथ किया जाएगा उतनी ही विकृति के उन्मूलन में उसे सफलता मिलेगी । व्यंगकार का कार्य उस निपुण सर्जन की तरह है जो दूषित अंगों को काटकर जीवन की रक्षा करता है । किन्तु तनिकसी असावधानी से वही सर्जन रोगी की मृत्यु का कारण भी बन सकता है । इसलिए किंचित असावधानी से किया गया व्यंग का प्रहार घातक भी सिद्ध हो सकता है ।"[64]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना समुचित होगा कि व्यंग्य की प्रभावोत्पादकता का आधार सर्जक होगा न कि पद्य या गद्य । कुशल सर्जक पद्य में भी प्रभावशाली व्यंग्य की सृष्टि कर सकता है । डॉ• बरसानेलाल चतुर्वेदीने न केवल हास्य-व्यंग्य की रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य-सर्जना को समृद्ध किया है, वरन् इस विषय का सूक्ष्म विवेचन विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है । "आधुनिक हिन्दी काव्य में व्यंग्य" नामक ग्रंथ में उन्होंने व्यंग्य के नाना पक्षों पर गहन चिंतन-मनन करते हुए कहा है : "मैं लोगों की इस धारणा से सहमत नहीं हूँ कि व्यंग्यकार गैरजिम्मेदार, असृजनात्मक एवं नकारात्मक होता है । कबीरने अपने समयमें हिन्दू और मुसलमानों में

बढ़ते हुए आपसी मनमुटाव को अपने व्यंग्य के माध्यम से कितना कम किया, यह किसीसे छिपा नहीं है । सामाजिक बहिष्कार एक सशक्त शस्त्र होता है, उसे करने से व्यक्ति कतराता है । प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा चाहता है । व्यंग्यकार ही असामाजिक तत्वों पर अंकुश लगाता है । यह सत्य है कि कुछ चिकने घडों पर व्यंग्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु इस कारण व्यंग्य के औचित्य को तो नहीं नकारा जा सकता । व्यंग्यकार का उद्देश्य सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विकृतियों का पर्दाफाश करना है, ढोंगी, पाखंडियों एवं भ्रष्टाचारियों के मुखौटों को समाज के सामने खोलकर रख देना है ....डोक्टर जिस समय मरीज का आपरेशन करता है वह चिल्लाता है, रोता है और कभी-कभी डोक्टर को गाली भी देता है । व्यंग्यकार का कार्य भी कुछ-कुछ ऐसा ही है । वह आलोचकों की चिन्ता नहीं करता । उसका कार्य तो समाज के कूड़े - करकट को साफ करना है । x x x श्रेष्ठ व्यंग्य चाहे वह गद्य में हो अथवा पद्यमें, प्रभावकारी होना चाहिए । प्रभावकारी तभी हो सकता है, जब उसमें शिष्टता, शालीनता एवं साहित्यिकता हो । "शुगर कोटेड" "पिल" की तरह व्यंग्य मधुवेष्ठित होना चाहिए । व्यंग्य में सपाटपन न होकर वक्रता होनी चाहिए । व्यंग्य जब सपाट होता है तो वह खुली निन्दा अथवा गाली-गलौज का रूप ले लेता है ।"[65]

डॉ॰ शेरजंग गर्गने व्यंग्य के मूलभूत प्रश्नों पर खूब जमकर चर्चा की है । "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में व्यंग्य" उनका शोध-प्रबन्ध है जिसमें उन्होंने व्यंग्य सम्बन्धी वैचारिकता, प्रतिबद्धता, प्रगतिशीलता जैसे

महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर कुछ सुचिन्तित टिप्पणियाँ प्रस्तुत की है । हल्के-फुल्के व्यंग्य की कटु आलोचना करते हुए वे लिखते हैं : "आज भी बहुत-से व्यंग्यकारों द्वारा व्यंग्य को "फ्री-स्टाइल कुश्ती" से ज्यादा अर्थ प्रदान नहीं किए जा रहे हैं । उनके लिए किसी विशिष्ट दृष्टि, परिवर्तन की वांछा, सुधार की कामना, सत्याभिव्यक्ति की ललक के बगैर भी व्यंग्य कर देना भर पर्याप्त होता है । ऐसा व्यंग्य डालडा के अभाव से पीड़ित गृहिणी द्वारा "पति" के स्थान पर "वनस्पति" के स्वागतार्थ भी हो सकता है, और किसी कार्टूनिस्ट द्वारा "व्यंग्य-विचार" के उस चित्र के रूप में भी, जिसमें निविदा सूचना" का शीर्षक देकर 70 साल के छपने के इच्छुक किसी निराश लेखक द्वारा देश के छोटे-बड़े सभी सम्पादकों को सूचित किया जाता है कि भविष्य में "सम्पादक के अभिवादन व खेद सहित" वाली पर्चियाँ वे उस लेखक से सस्ते दामों पर खरीद सकते हैं । क्या इस प्रकार के स्थूल व्यंग्य में किसी प्रकार की गहन विसंगति को मुखर कर सकने की शक्ति है ? क्या इस प्रकार का तथाकथित व्यंग्य एक साधनहीन लेखक की मजबूरियों के साथ अश्लीलतम व्यवहार करता हुआ, स्वयं व्यंग का ही कचूमर निकालकर नहीं रख देता है ? कहना होगा कि शाश्वत व्यंग्य और सामयिक व्यंग्य के बीच अन्तर की स्पष्ट समझ के अभाव में, या पत्रकारिता और लेखन पर व्यावसायिकता के पुरजोर प्रभाव में ही, आज का मात्र हास्य ही नहीं, -- बड़ी प्रतिशतता में व्यंग्य साहित्य भी अपने क्षेत्र के श्रेष्ठ कार्टूनिस्टों की कृतियों की सप्ताहभंगुर अथवा दिवसभंगुर परिणति को प्राप्त हो रहा है । लोग थोड़े समय के लिए आनंदित हो जाते हैं और हँस-मुस्कुराकर किंचित् कचोट महसूस करते हुए व्यंग्य की मार को बड़ी आसानी से भूल

जाते हैं । xxx इसका कारण यही है कि व्यंग्य-लेखन को अभी भी एक उत्तरदायित्वपूर्ण अथवा साहित्यिक गरिमा से मंडित माध्यम के रूप में ग्रहण न करके उस पर हँसी-मज़ाक का मुलम्मा चढ़ाकर सुविधाग्रस्त अर्थ प्रदान किए जा रहे हैं ।"[66]

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित कतिपय निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है : §1§ "व्यंग्य" अंग्रेजी के "सेटायर" का पर्यायवाची है और उसी अर्थ व संदर्भ में उसका प्रयोग हिन्दी में होता है । §2§ राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक विसंगतियाँ इसके मूल में है । §3§ लोगोंकी मूर्खता एवं धूर्तता की कलई को खोलना, उसका मुख्य उदेश्य है §4§ उसमें शिष्टता, शालीनता और साहित्यिकता होनी चाहिए । §5§ हास्य के अभाव में वह महज गाली-गलौज और साहित्यिकता के अभाव में वह भद्दी भड़ैती का रूप धारण कर लेता है । §6§ व्यंग्य सौदेश्य रचना है । §7§ सामयिक समस्याओं से अनुप्राणित होते हुए भी उसमें साहित्य के शाश्वतमूल्य होने चाहिए अन्यथा उसका मूल्य बासी अखबार से अधिक न होगा ।

व्यंग्यकारों की दृष्टि में व्यंग्य :-

उपर्युक्त विवेचन में डॉ॰ बरसानेलाल चतुर्वेदी का उल्लेख हो चुका है । यहाँ कुछ अन्य व्यंग्यकारों की व्यंग्य सम्बन्धी उक्तियों को - कथनों को रखने का एक उपक्रम किया गया है ।

जिस प्रकार प्रेमचन्द का उल्लेख किए बिना हिन्दी उपन्यास की चर्चा नहीं हो सकती, उसी प्रकार हिन्दी-व्यंग्य की चर्चा हरिशंकर परसाई के नामोल्लेख बिना अपूर्ण समझी जाएगी । हरिशंकर परसाई हिन्दी के पहले

रचनाकार हैं, जिन्होंने व्यंग्य को एक विधा के रूपमें अंगीकृत किया है । उनका व्यंग्य समाज के व्यापक प्रश्नों से जुड़ता है । उनकी व्यंग्य रचनाएँ हमारे मनमें गुदगुदी पैदा नहीं करती, बल्कि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक विसंगतियों से हमारा साक्षात्कार कराती हैं और इस प्रकार इस खोखली हो रही सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के प्रति एक तीखी प्रतिक्रिया से पाठक तिलमिला उठता है । उनके अनुसार भी व्यंग्य का उत्स विसंगतियों में हैं : "संगति के कुछ मान बने हुए होते हैं -- जैसे इतने बड़े शरीर में इतनी बड़ी नाक होनी चाहिए । उससे बड़ी होती है तो हँसी आती है । आदमी आदमी की बोली बोले, ऐसी संगति मानी हुई है । वह कुत्ते जैसा भौंके तो यह विसंगति हुई और हँसी का कारण । xxx मगर विसंगतियों के भी स्तर और प्रकार होते हैं । आदमी कुत्ते की बोली बोले यह एक विसंगति हुई । और वन महोत्सव का आयोजन करने के लिए पेड़ काटकर साफ किए जाएँ, जहाँ मंत्री महोदय गुलाब के "वृक्ष" की कलम रोपें, यह भी एक विसंगति है । दोनों में भेद है, गो दोनों में हँसी आती है ।"[67]

पिछले कई दशकों की प्रगति और विकास के नारों के बावजूद निहित स्वार्थों और अनेक अवांछनीय तत्त्वों के आघातों के सामने घिसट रही गाँवों की जिन्दगी का दस्तावेज है "राग दरबारी" उपन्यास । डॉ. विवेकीराय के शब्दों में राग दरबारी व्यंग्यात्मक उपन्यासों का प्रतिमान[68] बन गया है । इसी एक कृति से श्रीलाल शुक्ल का स्थान हिन्दी के प्रमुख व्यंग्यकारों में निश्चित हो गया है । "राग दरबारी"

की सृजन-यात्रा के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने निम्नलिखित विचार व्यक्त किए हैं :-

"प्रेमचन्द जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी साहित्य में, लगता है, ग्रामीण जीवन के प्रति दो प्रकार की दृष्टियाँ विकसित हुई हैं और दोनों ही रूढ़ि बन गई है । पहली दृष्टि ग्रामीण परिस्थिति को प्रकृति की रम्यता, सरलता, लोकगीतों और लोककथाओं की रूमानी तन्द्रिलता से जोड़ती है जिसकी हास्यास्पद परिणति ऊँची अरहर में लुकाछिपी खेलती युवतियाँ मदमाती चुम्बन पा प्रेमी युवकों के ...." जैसी पंक्तियों में होता है । ग्राम-जीवन की इस फर्जी, रूमानी, संघर्ष-रहित छवि को रेडियो और सिनेमा ने और भी पुष्ट किया है जिसके खिलाफ़ मेरी प्रतिक्रिया "स्वर्ण ग्राम और वर्षा" या "पहली चूक" जैसी मेरी आरंभिक रचनाओं में व्यक्त होती है ।"[69] दृष्टिकोण की इसी भिन्नता के कारण "राग दरबारी" परिहासात्मक अवज्ञा, व्यंग्य या "हाई कामेडी" के मूड में लिखा गया है ।"[70]

तीखे, गहरे और नुकीले व्यंग्य के लिए चर्चित शरद जोशी समाज, साहित्य और राजनीति की विकृतियों के मर्म पर बहुत ही सार्थक और स्वाभाविक चोट करने के साथ ही एक नयी दृष्टि भी प्रदान करते हैं । "व्यंग्य" पर भी इन्होंने व्यंग्यात्मक शैली में ही लिखा है : "साहित्य द्वारा प्रदत्त सारी शब्दावली और संस्कारों का वज़न ढोने की मजबूरी से ग्रस्त रहने के बावजूद ऐसे लिखना कि रचना कहीं साहित्य भर होकर न रह जाए । उसे साहित्य बन जानेसे बचाना है । व्यंग की ओर पिछले

सवालों कुछ ताज्जुब से इसीलिए देखा जा रहा है । व्यंग्यकारों ने अपनी रचनाओं को हिन्दी साहित्य के अर्थ में साहित्य होने से बचाया है ताकि वह अधिक सार्थक, प्रभावकारी और व्यापक हो सके । व्यंगकारों को यह कहते हुए शर्म महसूस नहीं होती कि वे एक बड़े पाठक वर्ग द्वारा पढ़े और सराहे गये हैं । यही हमारी कोशिश थी जिसमें हम सफल रहे । पता नहीं क्यों हिन्दी में लोकप्रियता अपराध मानी जाती है । लेखन को एक लुकाछिपी के अन्दाज़ से चलाया जाता है । यश ऐसे प्राप्त करते हैं जैसे किसी की जेब काट रहे हों । प्रतिष्ठित होने पर सकल ऐसी मनहूस हो जाती है जैसे चार-पाँच का मर्डर करके आए हों । यारो, यह अपना देश है, ये अपने लोग हैं, इनसे उठकर कहाँ उठोगे, इनसे बचकर कहाँ छुपोगे ? अगर हम-तुम उल्लू हैं तो बोस्की के कुर्ते में भी उल्लू ही लगेंगे । शब्द कब तक मदद करेंगे । खेद है हिन्दी साहित्य ने अपनी शुरुआत फौरन बाद जबर्दस्त नकलीपन ओढ़ लिया । इसे तोड़ने की कोशिश करनेवालों को सदा हिकारत से देखा जाता रहा है । व्यंगकार भी हिकारत से देखे गए हैं । यह सौभाग्य है । x x x इस बंदे को यह समझ में नहीं आया कि व्यंग में ताज्जुब की क्या बात है और वह अजूबा क्यों है ? जिस देश के लोग हज़ारों वर्षों से आक्रमण, अत्याचार, अन्याय, भूख, गरीबी, बीमारी, निराशा सहन करते हुए अपने कतिपय मूल्यों, विश्वासों और आस्थाओं से जुड़े रहे हैं, उनमें जिंदा रहने के लिए कोई "सेंस ऑफ ह्यूमर" कोई मस्ती जरूर रही होगी । xxx अब यदि उन ही मूल्यों, विश्वासों और आस्थाओं से जुड़ा साहित्य सामान्य ज़िन्दगी से भी जुड़ा है तो वह

"सेंस ऑफ हयूमर" साहित्य में भी आएगा ही जो अन्याय, अत्याचार और निराशा के विरुद्ध होने के कारण व्यंग में अभिव्यक्त होगा । इस तरह व्यंग पहचान है कि साहित्य कष्ट सहती सामान्य ज़िन्दगी के करीब है या जुड़ा हुआ है । नहीं हो सका तो कहीं गड़बड़ है । जो ऊपरी तौर से व्यंग से कतराने का पोज़ लेते हैं । उनकी रचनाएं भी कईबार जाने-अनजाने सशक्त व्यंग रचना बन जाती है । यह सहज है, सच है । xxx पिछले वर्षों व्यंग ने अपनी सार्थक भूमिका निभायी है । जब आम पाठकों को गुलशन नंदाओं के भरोसे छोड़ हिन्दी का साहित्यकार अपना खूबसूरत चेहरा छोटी पत्रिकाओं से ढांके था तब यह बदशक्ल कमजोर व्यंग सफलता - असफलता, सार्थकता - निरर्थकता, यश - अपयश की सारी जोखम में खेलता, जूझता, गिरता, उठता खुदको और अपनी दुनिया को समझने की कोशिश में अपने को दुरूस्त और बेहतर करने में लगा था । अभी भी है । क्षणभंगुर रचनाओं का अंबार खड़ा करने का विचित्र साहस है व्यंगकारों में । अमरता का लोभ इन्हें नहीं डिगा पाता । साहित्य और ज़िन्दगी की हमारी परिभाषाएं भिन्न हैं । आपकी आपको मुबारक । हमारा ज्यादा नाता ज़िन्दगी से है ।"[71]

हिन्दी में हास्य-व्यंग्य को उपेक्षा के बिन्दु से उठाकर उसे एक समृद्ध विधा बनाने की दिशा में जिन गिने-चुने लेखकों ने काम किया है, उनमें लतीफ घोंघी का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है । उनका हास्य बड़ा निश्छल और स्वाभाविक है और उनका व्यंग्य बेहद तीखा और मर्म तक चोट करनेवाला ।[72] व्यंग्य के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है : "मैं ने हास्य-व्यंग्य पर कोई शोधनिबंध लिखकर डॉक्टरेक्ट नहीं ली । मैं तो

बस इतना जानता हूँ कि हास्य-व्यंग्य मेरी ज़िन्दगी का वह जरूरी हिस्सा है जिसे काटकर मुझे बचा पाना मुश्किल है । वे सारी स्थितियाँ जिनमें मैं जीता हूँ और सुबह से शाम तक कई-कई बार गुजरता हूँ, मुझे कुछ इस तरह चोट देती हैं कि उन्हें अपनी कलम से स्नेप कर लेना ही मेरे लेखन की विवशता है, चाहे वे स्थितियाँ मेरी अपनी हों या दूसरों के माध्यम से मैंने उन्हें अपने अंदर पाल रखा हो । संवेदना का यह पक्ष मेरी रचना - प्रक्रिया का आवश्यक अंग है । xxx मेरी रचनाएँ आपको आलपिन की चुभन-सा-मीठा-मीठा दर्द दें और एक गुदगुदी आप के अंदर पैदा करें तो मैं समझूँगा कि मेरा व्यंग्य लेखन सफल हुआ है ।"[73]

रवीन्द्रनाथ त्यागी की व्यंग्यात्मक रचनाएँ एक ओर जहाँ अपनी व्यंग्यात्मकता के कारण पाठक को झकझोरती हैं, वहाँ दूसरी ओर पाठक में सोचने-विचारने की भूमिका भी निर्दिष्ट करती हैं । उनके व्यंग्य-निबन्ध "बातमें से बातमें से बात" का निम्नलिखित अंश व्यंग्य की रचना-प्रक्रिया को समझने में उपादेय सिद्ध होगा : "दुनिया में दो तरह के लोग पाये जाते हैं । एक तो वे जो बातको वहीं का वही खत्म कर देते हैं और दूसरे वे जो बातमें से बराबर बात निकालने चले जाते हैं । प्याज़ के छिलकों की तरह यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक या तो प्याज़ ही खत्म न हो जाये या बातचीत के स्थान पर जूता नाम का पदार्थ ही न चलने लगे । जूता भी दो प्रकार का होता है - एक तो दायें पैर का जूता और एक बायें पैर का जूता । जूतों की तरह पैर भी कई तरह के होते हैं । कुछ पैर होते हैं जिन्हें चरण कहा जाता है । जो चरण कोमल होते हैं, वे चरण-कमल

कहलाते हैं -- "चरण कमल बंदौं हरि राई ।" कुछ चरणों को पाद कहा जाता है । xxx टांग और पैर में भी अंतर होता है । नंगे पैर और नंगी टांग -- इन दोनों का प्रभाव आप पर अलग अलग होता है, क्योंकि पैर पुल्लिंग होता है और टांग स्त्रीलिंग । चरण जब गति पकड़ लेते हैं । लात कहलाते हैं ।"[74] यहाँ जाने - अनजाने व्यंग्य की रचना - प्रक्रिया एवं शैली-पक्ष उद्घाटित हो गया है । वस्तुत: व्यंग्यकार किसी भी विषय को उठाकर बातमें से बात निकालता हुआ अपने लक्ष्य भेद में सफल हो जाता है । समाज, राजनीति, शिक्षा, साहित्य, फिल्म, नाटक, नौकरी, पुलिस, व्यवस्था प्रभृति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के नाना पहलुओं की विसंगतियों को लक्ष्मीकांत वैष्णवने एक व्यंग्य नज़र से देखा है और उन पर सशक्त सार्थक प्रहार किया हैं । पीड़ा जब सहनशीलता की सीमा पार कर जाती है तो आदमी अट्हास कर उठता है । यह अट्हास सहज हास्य नहीं होता । उसमें पीड़ा का जहर घुला हुआ होता है । ऐसा अट्हास हमारे भीतर कहीं-न-कहीं विषैली चोट भी देता है । वैष्णवजीने व्यंग्य के बारेमें भी व्यंग्य दृष्टि से ही विचार किया है : "व्यंग्य अनेक प्रकार का होता है -- पीड़ा से उपजा व्यंग्य, आक्रोश से उपजा व्यंग्य, पत्रिका-संपादकों की मांग से उपजा व्यंग्य, व्यंग्यकारों की सूचि में नाम लिखा लेने की आकांक्षा से उपजा व्यंग्य । xxx उपरोक्त प्रकारों में पहले दो प्रकार के व्यंग्य घटिया होते हैं तथा बाकी के व्यंग्य अत्यंत श्रेष्ठ किस्म के । xxx व्यंग्य के केवल दो प्रकार होते हैं -- हास्य तथा व्यंग्य । बाकी विट, आयरनी, सरकाज्म, बर्लेस्क, वगैरह व्यंग्य के लिए - पानी सैटायर के लिए फ्रेंच - लेटिन होते हैं । और इन

शब्दों का कम-से-कम हिन्दी व्यंग्य-लेखन से कोई वास्ता नहीं होता । xxx व्यंग्य लिखना आसान होता है, पढ़ना-समझना आसान होता है, व्यंग्य लिखकर छपना आसान होता है - और खासकर आजकल व्यंग्यकी पुस्तकों का बिकना आसान होता है । इन सब कारणों से व्यंग्य को हिन्दी की श्रेष्ठ विधा माना जाता है । xxx कहानी, नाटक, लघुकथा, कविता, उपन्यास के रूप में लिखे गये व्यंग्य, व्यंग्य नहीं होते । व्यंग्य केवल पत्रिका के कोलम् में फिर हो जानेवाला हजार-बारह सौ शब्दों का एक छपा हुआ आकार होता है, जो न निबंध हो, न लेख हो, न कहानी हो, न एकांकी और न नाटक । अगर व्यंग्यकार इन माध्यमों से अपनी बात कहता है, तो वह व्यंग्य नहीं है । xxx परम श्रेष्ठ अथवा महाश्रेष्ठ रचना वह होती है जो अपन ने खुद ने लिखी होती है । दूसरों का लिखा, अपने लिखे हुए से अक्सर हल्का होता है ।"[75]

प्रस्तुत वक्तव्य में व्यंग्य-सम्बन्धी भ्रांतियों पर व्यंग्य किया गया है ।

डॉ॰ नरेन्द्र कोहली ऐसे व्यंग्यकार हैं जिन्होंने व्यंग्य के क्षेत्रमें अनेक शिल्पगत प्रयोग किए हैं । परम्परागत व्यंग्य-निबन्ध एवं व्यंग्य-कथा के अतिरिक्त व्यंग्य-उपन्यास तथा व्यंग्य नाटकों का भी सफल प्रयोग किया है । नरेन्द्र कोहली ने व्यंग्य को सदा सार्थक व्यंग्य के रूप में ही ग्रहण किया है । उनका व्यंग्य तीखा, गहरा और नुकीला होता है । व्यंग्य के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :

"कुछ अनुचित, अन्यायपूर्ण अथवा गलत होते देखकर जो आक्रोश जागता है -- वह यदि काम में परिणत हो सकता तो अपनी असहायता में वक्र होकर जब अपनी तथा दूसरों की पीड़ा पर हँसने लगता है तो वह विकट व्यंग्य होता है, पाठक के मन को चुमलाता - सहलाता नहीं कोड़े लगाता है, अत: सार्थक और सशक्त व्यंग्य कहलाता है । पीड़ित आक्रोश की वक्रताने जो दृष्टि दी, उसने अपने व्यक्तिगत अनुभवों से बाहर निकल राजनीतिक सामाजिक असंगतियों को भी देखा और अपने पीड़ित आक्रोश को प्रकट करने के लिए में व्यंग्य रचनाएँ लिखता रहा । xxx लिखने को नया हो तो शिल्प भी नया बन जाता है । यही कारण है कि मैं ने व्यंग्य लेखन के लिए निबंध, कहानी, एब्सर्ड उपन्यास, फंतासीय उपन्यास तथा नाटक के शिल्प का प्रयोग किया है । इन विविध प्रयोगों को मैं ने शिल्प के रूप में ग्रहण किया है - इनहें मैं भिन्न विधाएँ नहीं मानता । केन्द्रीय विधा तो एक ही है - व्यंग्य ! कुछ लोगों को व्यंग्य को स्वतंत्र विधा माननेमें आपत्ति हो सकती है । xxx विधाओं के भेद का मूल कारण, साहित्यकारों के व्यक्तित्व का भेद है । विधा की शर्तें, साहित्यकार के व्यक्तित्व की शर्तें ही है । यदि साहित्यकार के व्यक्तित्व में बिंब प्रधान हो, तो वह कवि होता है, घटना प्रधान हो तो कथाकार, विचारप्रधान हो तो निबंधकार -- ठीक उसी प्रकार, साहित्यकार के व्यक्तित्व में यदि आक्रोश की वक्रता प्रधान हो ता वह व्यंग्यकार होता है । यह दूसरी बात है कि आक्रोश सात्विक और ईमानदार न हो, तो रचना झूठा प्रचार हो जाती है, और सृजनात्मकता

की कमी हो तो रचना गाली-गलौज बनकर रह जाता है । ईमानदार और सृजनशील आक्रोश, कलात्मक होकर व्यंग्य की स्वतंत्र विधा को जन्म देता है । xxx व्यंग्य को स्वतंत्र विधा मानने के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि व्यंग्य आज विभिन्न विधाओं में लिखा जा रहा है : कविता में, कहानी में, निबन्ध में, उपन्यास में, नाटक में । किन्तु ऐसी आपत्ति करनेवाले भूल जाते हैं कि कथा साहित्य महाकाव्यों में लिखा गया, नाटकों में लिखा गया, बृहत उपन्यासों, लघुउपन्यासों, कहानियों तथा लघुकथाओं में लिखा गया । नाटक, कविता, महाकाव्य, खंडकाव्य, काव्य, गीत, नाटक इत्यादि छोटे-बड़े अनेक रूपों में लिखी गई । नाटक, पद्य-रूपक, गीति-काव्य, स्वतंत्र नाटक, एकाँकी इत्यादि रूपों में लिखा गया । xxx वह (व्यंग्य) शास्त्रकार से मांग करता है कि वह व्यंग्य-विधा के लक्षणों का निर्माण करे । किसी विधा को एक ही भाषा के सन्दर्भ में देखना भी उचित नहीं है । संभव है कि यह कहा जा सके कि अमुक भाषा में व्यंग्य नहीं है, किन्तु संसार की किसी भाषा में व्यंग्य अथवा satire स्वतंत्र विधा ही नहीं है, और व्यंग्य स्वतंत्र विधा हो ही नहीं सकता, ऐसा कहना मुझे उचित नहीं जंचता ।"[76]

इस सम्बन्ध में डॉ॰ शरजंग गर्ग के यह विचार दृष्टव्य है : "पिछले कुछ दिनों से एक सवाल काफी तेज़ी से उभारकर सामने लानेकी कोशिश की गई है -- क्या व्यंग्य एक स्वतंत्र साहित्यिक विधा है ? हमारे विचारसे यह प्रश्न बहुत ज़्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है । व्यंग्य को ठीक उसी तरह से साहित्यिक विधा तो हम नहीं मान सकते जैसे कि उपन्यास, कविता,

कहानी, नाटक अथवा निबंध को मानते हैं। पहली बात तो यह है कि व्यंग्य जिन रचनाओं में अपने गहन साहित्यिक रूप में उभर कर आता है, उनकी स्वयं ही कोई-न-कोई साहित्यिक विधा होती है, जैसे कि उपन्यास "राग दरबारी", जिसमें व्यंग्य का भरपूर इस्तेमाल किया गया है। इसे हम उपन्यास ही कहेंगे, व्यंग्य नहीं।"[77]

वस्तुत: व्यंग्य विषय, भाव या दृष्टि है जो किसी भी साहित्य-रूप में अभिव्यक्ति पा सकता है। विषय की दृष्टि से कई बार साहित्य का विभाजन होता है, जैसे - भक्ति साहित्य, वीरसाहित्य, गांधीवादी साहित्य, मार्क्सवादी साहित्य आदि; किन्तु भक्ति, वीररस, गांधीवाद, मार्क्सवाद कोई विधा नहीं है, दृष्टि है। यह विषय या दृष्टि अनेक काव्य-रूपों में रूपाश्रित हो सकते हैं। अत: हम व्यंग्यात्मक साहित्य के रूप में एक अलग विभाजन कर सकते हैं और तमाम विधाओं में लिखे गये साहित्य को उसके अंतर्गत रख सकते हैं किन्तु व्यंग्य को स्वतंत्र विधा मानने से तो कई गड़बड़ियाँ पैदा हो सकती हैं। यह भी एक भ्रम है कि व्यंग्य को स्वतंत्र विधा मानने से उसका महत्व बढ़ेगा। "राग दरबारी" को उपन्यास मानने से क्या उसकी व्यंग्यात्मकता कम हो जायेगी? अत: इन पचड़ों में पडे बिना व्यंग्यकार को चाहिए कि वह अधिक सार्थक, सशक्त, पैने, तीखे व्यंग्य की ओर अग्रसर हो। "हमें यह आशा करनी चाहिए कि जब जब व्यंग्य का उपयोग सार्थक, सटीक, सप्रयोजन, मानवीय और ग्राह्य सन्दर्भों की दिशा में होता रहेगा, व्यंग्य अपने नवीन अर्थ और अभिप्राय स्वयमेव प्रस्तुत करता रहेगा।"[78]

हास्य और व्यंग्य का अंतर :-

पश्चिम के विद्वान व्यंग्य की गणना हास्य के एक भेद के रूप में करते हैं । अत: व्यंग्य के स्वरूप को निर्दिष्ट करने के लिए यह जान लेना आवश्यक हो जाता है कि इन दोनों में क्या अंतर है ? वस्तुत: हास्य और व्यंग्य एक दूसरे की पूरक शक्ति है । इस सम्बन्ध में श्री अमृतराय का यह कथन उल्लेखनीय रहेगा : "हास्य और व्यंग्य के रंग-रेशे को एक-दूसरे से परस्पर अलग कर के देख पाना कठिन है क्योंकि ऐसा व्यंग्य मुश्किल से ही मिलेगा जिसमें हास्य का भी कुछ रंग न हो, और ऐसा हास्य भी कम देखने को मिलता है जिसमें कितना ही बारीक क्यों न हो, परोक्ष क्यों न हो, व्यंग्य का कुछ काँटा या नोंक न हो । xxx हास्य और व्यंग्य, दोनों का ही लक्ष्य अशिव का प्रतिकार और शिवत्व की प्रतिष्ठा है और सत्यका आग्रह भी दोनों में बहुत कुछ एक जैसा ही पाया जाता है । लेकिन व्यंग्य के लिए वह न्याय-अन्याय का प्रश्न होता है और हास्य के लिए सुन्दर - असुन्दर का। व्यंग्य पाठक के क्षोभ या क्रोध को जगाकर प्रकारान्तर से उसे अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए सन्नद्ध करता है, हास्य उस अशिव और असुन्दर का मखौल उड़ाकर जहाँ एक ओर पाठक को हँसाता है वहाँ दूसरी ओर उस अशिव को हास्यास्पद बनाकर उसके आतंक को समाप्त कर देता है । xxx अच्छी व्यंग्य-रचना पढ़कर आदमी कभी जोर से नही हँसता, बस एक हल्की-सी, टेढ़ी-सी, जहरीली-सी मुस्कराहट उसके होठों पर आ जाती है । xxx इसलिए कभी-कभी लोगों को यह कहते सुना जाता है कि हास्य व्यंग्य की तुलना में कुछ निरामिष जैसी चीज है ।"[79]

हास्य और व्यंग्य में अन्तर बताते हुए डॉ॰ पारूकान्त देसाई ने "कबीरा खड़ा बाज़ार में" की भूमिका में लिखा है : "हास्य निर्दंश होता है । उसमें कटुता और तिक्तता नहीं होती, जबकि व्यंग्य में यह तीनों चीजें होती हैं । उसका उद्देश्य ही कई बार व्यक्ति के मनो-मस्तिष्क पर चोट पहुंचाकर तिलमिलाहट पैदा करना होता है । हास्य का उदेश्य मानसिक तनाव कम करना है, विपरीत इसके व्यंग्य का उद्देश्य मानसिक तनाव पैदा करके विद्रोह की भूमिका को तैयार करना है । हास्य "कॉमेडी" के निकट है, व्यंग्य "सेटायर" के । "सेटायर" शब्द ही "सर्टरस" नामक एक विचित्र जंतु[80] के आधार पर हुआ है ।"[81]

इसी सम्बन्ध में ए॰ निकालने लिखा है : "व्यंग्य हास्य-प्रधान न होकर कटुता-प्रधान होता है । कभी - कभी उसमें इतनी कटुता होती है कि हास्य की मात्रा न्यूनतम भी नहीं रहती । इसकी चोट गहरी होती है । उसमें दया, करूणा, उदारता आदि मानवीय भावनाओं का अभाव होता हैं । असामाजिक मनुष्यों के चरित्र की खिल्ली उड़ाना उसका धर्म होता है । उसकी चोट से युग की कोई विकृति बच नहीं पाती ।"[82]

मेरीडिथ महोदय ने इन दोनों के अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि हम किसी हास्य के आलंबन का इतना मज़ाक उड़ाते हैं कि उसके प्रति हमारी दयालुता समाप्त हो जाय तो हास्य व्यंग्य की कोटि में आ जाता है : " If you defect the ridicule and your kindliness is chilled by it you are slippling in to the grasp of satire."[83]

हास्य और व्यंग्य के बीच विभाजक रेखा खींचते हुए प्रो· पोट्स कहते हैं : "कामदी जीवन तथा मानव-प्रकृति को सद्भावना एवं सहानुभूति के साथ ग्रहण करती है तथा कभी-कभी उसके प्रति क्षोभ का भाव भी होता है किन्तु दृष्टिकोण सदैव उदार एवं प्रेमपूर्ण होता है । इसके विपरीत व्यंग्य विकृति को नकारता ही नहीं है वरन् उसका विध्वंस करके ही छोड़ता है इसलिए व्यंग्यकार असामाजिक तत्व के प्रति सहानुभूतिपूर्ण भाव रखेगा तो उसका उद्देश्य ही समाप्त हो जायेगा ।"[84]

डॉ बरसानेलाल चतुर्वेदीने इन दोनों के अंतर को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है : "हास्य का उद्देश्य विशुद्ध मनोरंजन करना होता है जब कि व्यंग्य का उद्देश्य सुधार करना होता है । हास्यमें भावतत्व प्रमुख होता है, व्यंग्य में बुद्धि तत्व । व्यंग्यकार हर प्रकार की विकृति को गंभीरता से देखता है, निर्ममता से उसका पर्दाफाश करता है एवं समाज से अपेक्षा करता है कि उस व्यक्ति की भर्त्सना करे जबकि हास्यकार उस विकृति का वर्णन कर संतोष कर लेता है । xx हास्यकार असंगतियों के चित्रण में रस लेता है जबकि व्यंग्यकार विद्रोह को वाणी देता है ।"[85]

इसप्रकार व्यंग्यकार के भावनाप्रधान होते ही वह हास्य के क्षेत्र में पहुंच जाता है और यदि हास्यकार में आलोचना-प्रवृति तीव्र होगी, आक्रोश में वृद्धि होगी, तो वह व्यंग्य के क्षेत्र में पहुंच जायेगा ।

निष्कर्ष : कहा जा सकता है कि हास्य और व्यंग्य स्पष्टत: भिन्न-भिन्न विधाएं होते हुए भी दूध में पानी की भांति मिश्रित है ।

उपहास - परिहास :

जब हास्य के आलंबन का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन होता है, तब वह उपहास की कोटि में आता है। किसी का मजाक या मखौल उड़ाने के लिए इसका प्रयोग होता है। "शिव-धनुष-भंग" वाली हास्य--कथा में शिव के धनुष्य का भंग किसने किया ? वाली समस्या को यदि एजुकेशन बोर्ड या शिक्षा-मंत्री तक खींचा जाय तो वह उपहास की वस्तु हो जायेगी। उत्तरमध्यकाल के कवि अलीमुहिबखाँ "प्रीतम" की "खटमल बाईसी" (सन् 1730) उपहास काव्य की कोटि में आती है। दैनंदिन - जीवन की सामान्य हल्की-फुल्की मनोरंजन-प्रधान बातों को परिहास के अंतर्गत लिया जा सकता है। रीतिकालीन साहित्य में नायक-नायिका के मान-मनौवल, उपालंभ, वक्र-कथन इत्यादि को हम परिहास की कोटि में रख सकते हैं। निम्नलिखित श्लोक में पार्वती का ऐसा ही परिहास उपलब्ध होता है :

कस्त्वं शूली मृगय भिषजं नील कण्ठः प्रियेऽहं
केकामेकां कुरु पशुपतिर्नैन दृश्ये विषाणे।
स्थाणुर्मुग्धे न वयति तरूर्जीवितेशः शिवायाः
गच्छातव्यामिति हत ववाः पातु वश्चन्द्र चूडः ।।

अर्थात् शिव ने द्वार खटखटाया। पार्वती ने पूछा - कौन ? शिव बोले -- मैं शूली (त्रिशूलधारी) हूँ। पार्वती ने "शूली" का अर्थ "शूल रोग से पीड़ित" लगाकर कहा -- शूली हो तो किसी वैद्य के पास जाओ। शिव बोले -- अरे, मैं नीलकंठ। पार्वती ने "नीलकंठ" का अर्थ मयूर लगाते हुए

कहा कि "केका-केका" बोलो । तब शिव बोले -- मैं पशुपति हूँ । पार्वती ने पशुपति का अर्थ बैल लगाते हुए कहा कि तुम्हारे सींग भी है ? शिवने कहा -- अरी मुग्धे ! मैं हूं स्थणु (शिव) । पार्वती का उत्तर था स्थाणु (वृक्ष) तो बोलता नहीं । तब फिर शिव ने कहा कि मैं तुम्हारा शिवा (पति) हूँ । पार्वती ने "शिवा" का अर्थ "श्रृगाली" लगाकर कहा कि तब फिर किसी श्रृगाल के पास जाओ, यहाँ क्यों आये हो ? और बेचारे शिव निरुत्तर रह गये ।

अत: कह सकते हैं कि हास - उपहास - परिहास मनोविनोद की वस्तु है । व्यंग्य के वे साधन हो सकते हैं, साध्य नहीं ।

व्यंग्य के सन्दर्भ में इन्वेक्टिव तथा लेम्पून

पाश्चात्य समीक्षकों ने व्यंग्य के सन्दर्भ में इन दो शब्दों की सविशेष चर्चा की है । पहले का अर्थ है गाली-गलौज और दूसरे का निन्दा करना अथवा आक्षेप करना । व्यंग्यकार अपने आलम्बन की भर्त्सना करने में सामाजिक मर्यादाओं और शिष्टता का अतिक्रमण करता है तब उसका व्यंग्य महज गाली-गलौज या निन्दापूर्ण आक्षेप हो जाता है । रीतिकाल में लिखे गए भड़ौए लेम्पून की कोटि में आते हैं ।

विट अथवा वचन - विदग्धता

अंग्रेजी में जिसे "विट" कहते हैं, हिन्दी में उसे सुभाषित, चोज-वचन, वचन-वैदग्ध्य, उक्ति-चमत्कार, प्रत्युत्पन्नमति आदि कहते हैं । वह एक प्रकार की चमत्कारपूर्ण उक्ति होती है जिससे लोगों का मनोविनोद होता

है । "विट" के लिए एक प्रकारकी सुसंस्कृत कल्पनाशक्ति और कलाज्ञान की आवश्यकता होती है । श्री नारायण चतुर्वेदी द्वारा संपादित "साहित्यिक चुटकुले" में साहित्यिकों में चलनेवाले अनेक "विट" मिलते हैं । व्यंग्यकार अपने व्यंग्य में पैनापन लाने के लिए इसका प्रयोग कर सकता है । यहाँ "महत्व की बात यह है कि व्यंग्यकार को जो अभीष्ट है उस तक पहुँचने के लिए जितनी मात्रा में वचन - विदग्धता की आवश्यकता है, व्यंग्यकार को उतनी मात्रा में इस उपकरण का प्रयोग करना चाहिए । यदि पाठक केवल वचन-विदग्धता के चमत्कार में ही उलझ जाता है तो व्यंग्यकार अपने उदेश्य में विफल हो जायेगा ।"[86]

<u>बर्लेस्क</u> : व्यंग्य के सन्दर्भ में पाश्चात्य समीक्षा में "बर्लेस्क" की चर्चा भी होती है । हिन्दी में उसे हँसी - ठठ्ठा, अनुकरणिका अथवा विद्रूपिका कह सकते हैं । डॉ॰ बरसानेलाल चतुर्वेदी ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है : "जो अंतर स्मित हास्य एवं उत्फुल्ल ठहाके में है वही अंतर "बर्लेस्क" और "व्यंग्य" में है । "बर्लेस्क" में अतिशयोक्ति इतनी अधिक मात्रा में प्रयोग में लाई जाती है कि वह हास्यास्पद हो जाती है । जहाँ व्यंग्य अपनी गंभीर मर्यादा का अतिक्रमण करता है वहाँ वह "बर्लेस्क" अथवा "हँसी-ठठ्ठा" की कोटि में आ जाता है । "बर्लेस्क" में विकृति (आलम्बन) को इतना अतिरंजित कर दिया जाता है कि वह विद्रूप की कोटि में आ जाता है । उसमें कलात्मकता एवं प्रभावशीलता का तिरोभाव हो जाता है ।"[87]

परौडी, प्रहसन इत्यादि की चर्चा भी इसी सन्दर्भ में होती है । यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि उपर्युक्त सभी शैलियाँ या रूप व्यंग्य के उपादान हैं, साधन हैं । सशक्त व्यंग्य की रचना के लिए व्यंग्यकार इनका आवश्यकतानुसार प्रयोग करता रहता है ।

निष्कर्ष

अध्याय के समग्रालोचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकल सकते हैं :-

§1§ साठोत्तरी युगीन - चेतना टूटते - बिखरते जीवन-मूल्यों, टूटते-भहराते मानवीय रिश्तों, टूटते-बिलखते गाँव और व्यक्तियों की कसक, पीडा, घुटन से व्याप्त, गरीबी, बेकारी, शोषण, भ्रष्टाचार, बौद्धिक नपुंसकता तथा व्यर्थ बकवादिता आदिसे भयंकर रूप से आक्रान्त एक मोहभंग की मुद्रा लिए हुए है ।

§2§ साठोत्तरी कविता और कहानी की भाँति साठोत्तरी उपन्यासों ने भी अपनी अलग पहचान बनायी है । वैयक्तिक - यथार्थवादिता, वस्तु, चरित्र एवं शिल्प के प्रति अरोमानी, बेलाग, निर्मम, निस्संग, निरपेक्ष दृष्टि, अनासन्न लेखकत्व, व्यंग्यात्मकता, प्रयोगशीलता, आधुनिक भावबोध, वस्तु एवं चरित्रनिर्माण में कलागत निरपेक्षता के साथ नवीन भाषाभिव्यंजना जैसे महत्वपूर्ण मुदों की पड़ताल इनमें सहज ही की जा सकती है ।

§3§ सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विकृतियों से व्यंग्य की सृष्टि होती है ।

(4) व्यंग्य सोद्देश्य होता है । विकृति, बीभत्सता, विद्रूपता के प्रति उसका एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण होता है । असंगति के प्रति आक्रोश पैदा कर विद्रोह की भूमिका तैयार करना उसका काम है । उसमें सुधारवादी दृष्टिकोण भी परिलक्षित होता है ।

(5) हास्य और व्यंग्य में मूलभूत अंतर होते हुए भी वे एक-दूसरे के पूरक है । हास्य निर्दोष एवं निर्दंश होता है जब कि व्यंग्य में कटुता एवं चोट होती है ।

(6) उपहास - परिहास, विट, पैरोडी, प्रहसन, बर्लेस्क प्रभृति व्यंग्य के उपादान हैं ।

सन्दर्भ

1 "काव्य के रूप" : बाबू गुलाबराय : पृ· 181 ।

2 "हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन" : डॉ· गणेशन : पृ·58 ।

3 "प्रेमचन्द और उनका युग" : डॉ· रामविलास शर्मा : पृ· 31 ।

4 "युग निर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध" : डॉ· पारूकान्त देसाई, पृ· 1 ।

5 "हिन्दी साहित्य " एक आधुनिक परिदृश्य" : अज्ञेय : पृ· 96 ।

6 "प्रेमचन्द और उनकी उपन्यास कला" : डॉ· रघुवरदयाल वार्ष्णेय : पृ· 16 ।

7 "कलम का सिपाही" : अमृतराय : पृ· 175-176 ।

8 "हिन्दी उपन्यास : प्रेम और जीवन" : डॉ· शांति भारद्वाज : पृ· 20 ।

9 "The Novel is not merely a fictional prose. It is the prose of man's life, the first art to attempt, to take the whole man and give his expression" : 'The Novel and the People' : P. 20 1

10 "More than interesting, the novel is important because it does day by day express mankind and in making the mankind" : 'A novelist on Novels : George : P.4.

11 डॉ शिवदानसिंह चौहान : "एक पंखुड़ी की तेज़ धार" की समीक्षा : जनयुग, 6 जनवरी 1966 ।

12 "उपन्यास" शीर्षक लेख : साहित्य - संदेश, मार्च 1940 ।

13 "In 1966 he (Kamraj Nadar) played a major role in marshalling opinion in favour of Indira Gandhi's candidature for prime minister, as against Moraraji xxx He was a great admirer of Jawaharlal Nehru, but sentiment was not the only reason for the support he gave Indira Gandhi. He thought that as prime minister she would be ameanable to persuation and to his influence."

: 'The Faces of Indira Gandhi'

: Uma Vasudev : P. 20-21 .

14 "At its session in Bangalore, the 'syndicate' decided to vote for N. Sanjiva Reddy. Mrs. Gandhi demurred. When Nijalingappa wanted to issue a whip in support of Sanjiva Reddy, she came out for a 'free vote' and openly expressed support for the candidature of Vice-president, V.V.Giri" : 'Indira Gandhi Returns : Khushwant Singh : P. 25 |

15. "All that the opposition had to offer the electroate was the negetive, 'Indira Hatao' (get rid of Indira); by contrast India at least offered a slogan of hope, 'garibi hatao' (get rid of poverty). The election was a veritable Indira wave. Her party won 350 Lok Sabha seats - 120 more than before" : Ibid : p. 26.

16 "यह पहला युद्ध था, जिसमें भारत की सेना, किसी अन्य देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ने गई थी । और विजय प्राप्त कर, शासन का अधिकार उस देश की जनता के हाथों में दे आई थी ...... जैसे राम किष्किंधा को सुग्रीव के हाथों और लंका को विभीषण के हाथों में सौंप आए थे ।" : डॉ॰ नरेन्द्र कोहली : "दीक्षा" की सृजन-यात्रा: नामक निबंध : "आधुनिक हिन्दी उपन्यास" : सं॰ भीष्म साहनी : पृ॰ 524 ।

17 "She then cashed in on her immense popularity to wipe out the ramnants of the opposition to her. In the state elections of 1972, her party swept the polls by winning 1926 seats of the 2529 that it contested. She became the supreme ruler of the country, with the back-handed compliment - Queen Empress of India" : 'Indira Gandhi Returns' : Khushwant Singh : P.35 .

18 "Rajendraprasad (1950-52), Radhakrishnan (1962-67) and Zakir Husain (1967_69) were all men of considerable stature, whose opinions were respected by Nehru, Shashtri and Indira Gandhi. V.V.Giri did not have the academic distinctions of his predecessorsand was essentially a creature of the prime minister. He did as he was bidden to do. More often, to avoid embarrassment, he was left to perform ceremonial functions and to enjoy the comforts of the presidential palace". : Ibid : p. 36 1

19 "She did not play the conventional role ascribed to prime ministers in a democracy of acting as the first among equals. She towered above a lot of nondescript second raters xxx She cut them to their proper sizes. She trested them as a masterly school mistress would treat a bunch of petulant children." : Ibid : p. 27.

20 "I could not take in the full impact of what had happened. Nobody in the 'Times of India' building knew more than all the opposition leaders including J.P. had been arrested and censorship had been imposed on the press." Ibid : P.70.

21 'I had heard people in all walks of life, all over the country, say, 'Inko raj karna nahin ata' - these people (Janata) don't know how to rule." : Ibid : P. 178.

22 "Though the novel is a great art, it is also an art which admits of much mediocre talent." : I for Even : History of English Literature : P. 207.

23 दृष्टव्य : "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : डॉ॰ पारूकान्त देसाई : पृ॰ 9 ।

24 दृष्टव्य : साठोत्तरी कविता : डॉ॰ बादामसिंह रावत ।

25 "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : डॉ॰ पारूकान्त देसाई : पृ॰ 13 ।

26 "विवेक के रंग" : पृ॰ 297 ।

27 'Seminar on creative writing in Indian Languages (1972) : P. 47 1

28 "अलग - अलग वैतरणी" : पृ॰ 663-664 ।

29 वही : पृ॰ 686 ।

30 वही : पृ॰ 667 ।

31 वही : पृ॰ 685 ।

32 लेख : "आधुनिकता के आईने में हिन्दी उपन्यास" : परिशोध : 17 अक्तूबर, 1972 : पृ॰ 57 ।

33 "मैं सिर्फ चाहती हूँ कि दूसरे को बाद में पछतावा न हो .... दैन इट इज़ मिजरी ।" : रायना का कथन : "वे दिन" : पृ॰ 209 ।

34 "आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण" : डॉ॰ रमेशकुंतल मेघ : पृ॰ 439 ।

35 तुलनीय : डॉ॰ जशवंत शेखडीवाला : गुजरात साहित्य अकादमी एवं अक्षरा द्वारा आयोजित "आधुनिकता और आधुनिक भावबोध" पर आयोजित संगोष्ठी में डॉ॰ शेखडीवाला का वक्तव्य ।

36 "आधुनिकता और हिन्दी आलोचना" :पृ॰ 8 ।

37 वही : पृ॰ 103 ।

38 लेख : "जनवादी राम और रामकथा के नये आयाम" : संकलित- "आधुनिक हिन्दी उपन्यास" : सं॰ भीष्म साहनी : पृ॰ 533 ।

39 डॉ॰ नरेन्द्र कोहली : "दीक्षा की सृजन-यात्रा" लेख: आधुनिक हिन्दी उपन्यास : सं॰ भीष्म साहनी : पृ॰ 530 ।

40 उपरिवत् : पृ॰ 530 ।

41 "आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन" : पृ॰ 21-22 ।

=

42 "There is always a seperation between the man who suffers and the artist who creats and the greater the seperation the greater the artist." : The secred wood, Traddition and Individual Talent : P.53.

43 दृष्टव्य : "पाश्चात्य समीक्षा-दर्शन" डॉ॰ जगदीशचन्द्र जैन : पृ॰ 408-409 ।

44 "Since the novelist's primary task is to convey the impression of fidelity of human experience, attention to any pre-established formal conventions can only endanager his success." : Evan Watt: The Rise of the Novel : P. 13.

45 आधुनिक हिन्दी काव्य में व्यंग्य : डॉ॰ बरसानेलाल चतुर्वेदी : पृ॰ 169 ।

46 "कबीरा खड़ा बाजार मे" : व्यंग्य-निबन्ध : डॉ॰ पारूकान्त देसाई : भूमिका से ।

47 "हिन्दी साहित्य में हास्य और व्यंग्य" : ग्रंथ में संकलित - "हास्य का विवेचन" लेख से ।

48 "आधुनिक हिन्दीसाहित्य में व्यंग" : पृ॰ । ।

49 "आधुनिक हिन्दी काव्य में व्यंग" : पृ॰ 9 ।

50 गुजरात में इसे "फटाणा" कहते हैं ।

51 हिन्दी साहित्यकोश, भाग-। : पृ॰ 894-895 ।

52 "समीक्षायण" : डॉ॰ पारूकान्त देसाई : पृ॰ 109 ।

53 "हिन्दी प्रगतिशील कविता" : डॉ॰ रणजीत : पृ॰ 344 ।

54 " Satire in the literary aspect, may be defined as the expression, in adequate terms, of the sense of amusement or disgust excited by ridiculous or unseemly, provided that humour is distinctly recognizable element and the utterance is invested with literary form. Without humour it is invective, without literary form it is mere clownish Jeering." : Encyclopaedia Britanica : 20th Vol. 14th Ed.,P.5.

55 "A composition in verse or prose holding up vice or folly to ridicule or lampooning individual(s), in speech or writing for the ostensible purpose of exposing & discoveraging vice or folly." : The concise Oxford Rictionary L P. 1097.

56 "Indeed, it (satire) originated in deliberately formless, writing, the word means 'hotch-potch'. The latin satura took at least two distinct forms, the mere persistent was no more than an essay in verse. Quite early in its history it was used largely for invective and form this historical accident, the modern sense of the word is derived. What that sense is, is far from clear. It is not more invective. It involves some kind of distortion, it caricatures its object or compares it to something ridiculous or of ill repute or contemptible or stands on its head or drenches it merely in wit".
Comedy : L.J.Potts : P. 153.

57 "Satire is a sort of glass, wherein be holders do generally discover everybody's face but their own, which is the chief reason for that kind of reception it means in the world, and that so very few are offended with it." : The Battle of the Books : P.6.

58 "Whether good or bad, general or particular, true or pause, savage or humourous, prosaic or poetic - any literary attack upon the vice or folly of man and manners may be contained under the general word satire." 'Jonathan Swift and the Anotomy of Satire" : John M. Bullitt : P. 39 .

59 See, 'Satire' : Mathew Hagarth : P. 348
अनुवाद : डॉ बरसानेलाल चतुर्वेदी : "आधुनिक हिन्दी काव्य में व्यंग्य : पृ. 11 ।

60 See, 'Notes on English Verse satire' Humbert Wolfe : P.7
अनुवाद: डॉ. बरसानेलाल चतुर्वेदी :"आधुनिक हिन्दी काव्य में व्यंग्य : पृ. 11 ।

61 "The true end of satire is the amendment of vices by correction" -- Dryden.

62 "Fools are my theme, let satire be my song" Byron.

63 डॉ. मेंहदीरत्ताने "व्यंग्य" के स्थानपर शोध-प्रबन्ध में सर्वत्र "व्यंग" शब्द का ही प्रयोग किया है ।

64 "आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यंग" : पृ. 24-25 ।

65 "आधुनिक हिन्दी काव्य में व्यंग्य" : पृ. 19-21 ।

66 "व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न" :पृ. 9-10 ।

67 "सदाचार का तावीज" : पृ. 6 ।

68 दृष्टव्य : हिन्दी उपन्यास : उत्तरशती की उपलब्धियाँ : पृ. 181-190 ।

69 "राग दरबारी" संस्मरण : श्रीलाल शुक्ल :

70 "आधुनिक हिन्दी उपन्यास" : सं॰ भीष्म साहनी, पृ॰242-243 ।

71 "मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ" : शरद जोशी : भूमिकासे ।

72 रवीन्द्रनाथ त्यागी ४ "मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ : लतीफ घोंघी" के प्रकाशकीय वक्तव्य से ।

73 "मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ : लतीफ घोंघी" :भूमिका से ।

74 मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ : रवीन्द्रनाथ त्यागी : पृ॰ । ।

75 मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ : लक्ष्मीकान्त वैष्णव : भूमिका से ।

76 मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ : नरेन्द्र कोहली : भूमिका से ।

77 "व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न" : पृ॰ 12 ।

78 वही : पृ॰ 13 ।

79 नई कहानियाँ : नवम्बर 1969 : पृ॰ 6-7 ।

80 "Satyr, which was the name for a kind of demigod, half human and half horse" : An ABZ of Love : p. 323.

81 "कबीरा खड़ा बाज़ार में" : डॉ॰ चारूकान्त देसाई : भूमिका ।

82 An Introduction To Dramatic Theory : P. 181.

83 'The Idea of Comedy' : Meridith : P. 391.

84 Comedy : P. 155.

85 "आधुनिक हिन्दी काव्य में व्यंग्य" : पृ॰ 12 ।

86 वही : पृ॰13 ।

87 वही : पृ॰ 17 ।